तत्त्वभावना

श्री अमितगति आचार्य कृत

संपादक

आचार्य वसुनंदी मुनि

प्रकाशक

निर्ग्रन्थ ग्रंथमाला समिति (रजि०)

कृति: तत्त्वभावना

शुभाशीष :
प०पू० राष्ट्रसंत, सिद्धांत चक्रवर्ती दि० जैनाचार्य
श्री 108 विद्यानंद जी मुनिराज

संपादक:
आचार्य मुनि वसुनन्दी

सहयोगी:
संघस्थ सभी साधुवृंद एवं त्यागीव्रती

तृतीय संस्करण: अक्टूबर 2017 (1000 प्रतियाँ)

प्रकाशक:
निर्ग्रन्थ ग्रंथमला समिति (रजि०)

मुद्रक:
अरिहंत ग्राफिक्स, दिल्ली

प्राप्ति स्थान:
श्री जयशान्ति सागर निकेतन अतिशय क्षेत्र
मण्डौला, गाजियाबाद (उ.प्र.)

श्री जम्बूस्वामी तपोस्थली
ग्राम बौलखेड़ा (कामां) भरतपुर (राजस्थान)
हिमांशु जैन 09024182930

णाणं पयासाओ

सूर्योदय होने से केवल तमोपुंज का ही अंत नहीं होता अपितु दिव्य प्रकाश का भी उदय होता है। प्रकाश जीवंतता का प्रतीक है, दिवाकर का प्रकाश दिव्यता का द्योतक भी है, उसके माध्यम से प्राणी दिव्यता को प्राप्त करने में समर्थ होता है। प्रकाश को केवल ज्ञान का ही प्रतीक नहीं माना अपितु सुख का कारण भी स्वीकार किया गया है। इसीलिए न्याय ग्रन्थों में इसलिये दीपक को स्वपर प्रकाशी निरूपित करते हुये ज्ञान की महिमा को प्रदिर्शित किया है। जिस प्रकार प्रकाश के बिना अंधकार में जीया गया जीवन अनेक दु:ख क्लेश, अशांति, वैमनस्यता, ईर्ष्या, विद्वेष, चिन्ता आदि विकारों को जन्म देने वाला होता है एवं दुष्कृत्यों का निमित्त कारण बन जाता है, उसी प्रकार चेतना में विद्यमान अंधकार मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम और दु:ख रूप प्रवृत्ति कराने वाला होता है।

बहिर्जगत में विद्यमान तमसावृत्त निशा का निराकरण करने के लिये आदित्य समर्थ होता है। अनेक चंद्रादि ज्योतिर्ग्रह निशा में उदित होकर अपने अस्तित्व का बोध कराते हुये शीतल प्रकाश भी प्रदान करते हैं। चेतना के प्रदेशों पर विद्यमान मिथ्यात्वादि के अंधकार को दूर करने में सूर्यादि अनेक ग्रह भी समर्थ नहीं होते, आत्मप्रदेशों में विद्यमान अंधकार को सम्यक्त्व, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र के तीन रत्न ही तिरोहित करने में समर्थ होते हैं। इन तीन रत्नों की प्राप्ति सर्वज्ञ, वीतरागी, प्राणी मात्र के लिए हितोपदेशी जिनेन्द्र देव के माध्यम से ही संभव है किन्तु वर्तमान में दुखमा नाम का पंचमकाल उदयावस्था को प्राप्त है अत: भरत, ऐरावत क्षेत्र में केवली भगवान का यहाँ सद्भाव नहीं है, उनके अभाव में जिनवाणी भव्य प्राणियों के मिथ्यात्वादि अंधकार को दूर करने में समर्थ है।

आ. पद्मनन्दी स्वामी जी ने पद्मनंदीपंचविंशतिका में लिखा है-

सम्प्रत्यस्ति ने केवली किल किलौ त्रैलोक्यचूड़ामणि-
स्तद्वाचः परमासतेऽत्र भरत क्षेत्रो जगद्योतिका।
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तेषां समालम्बनं,
तत्पूजा जिनवाचिपूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः॥

वर्तमान में इस कलिकाल में तीन लोक के पूज्य केवली प्रभु इस भरत क्षेत्र में साक्षात् नहीं हैं तथापि समस्त भरतक्षेत्र में जगत्प्रकाशिनी केवली प्रभु की वाणी मौजूद है तथा उस वाणी से आधारस्तंभ श्रेष्ठ रत्नत्रयधारी मुनि भी हैं इसीलिए उन मुनि का पूजन तो सरस्वती का पूजन है तथा सरस्वती का पूजन साक्षात् केवली का पूजन है।

जिनवाणी का संवर्धन, संरक्षण एवं संस्थिति वर्तमान में निर्ग्रंथ साधु आदि चतुर्विध संघ से है। निर्ग्रंथ संत आदि आत्मसाधक जिनवाणी की दिव्य देशना के माध्यम से स्वपर का कल्याण करने में संलग्न हैं। जिनवाणी का प्रचार-प्रसार ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी कर्म के क्षयोपशम को ही वृद्धिंगत नहीं करता अपितु मोहनीय कर्म के क्षयोपशम को वृद्धिंगत करने में भी कारण है तथा अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्र, असाता वेदनीय एवं अंतराय कर्म के बंधन से बचाने वाला है, आत्मकल्याण के मार्ग में आने वाले विघ्नों को विलुप्त करने वाला है। जिनवाणी के सम्यक् प्रचार-प्रसार असातावेदनीय को सातावेदनीय में, अशुभ नामकर्म को शुभ नामकर्म में, नीचगोत्र को उच्चगोत्र में संक्रमित भी किया जा सकता है। जिनवाणी के अध्ययन-अध्यापन से शुभास्रव, सातिशय पुण्य का बंध, अशुभ का संवर एवं पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है।

वर्ष 2016-2017 हम परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी गुरुदेव के स्वर्ण जयन्ती वर्ष के रूप में अनेक धार्मिक अनुष्ठानों के साथ आयोजित कर रहे हैं। इसी श्रृंखला में आचार्य प्रणीत वर्तमान में अनुपलब्ध बहुपयोगी 50 शास्त्रों का प्रकाशन करने का संकल्प निर्ग्रंथ ग्रंथमाला समिति आदि संस्थाओं ने लिया है। उसी क्रम में प्रस्तुत ग्रंथ 'तत्त्वभावना' आपके श्री करकमलों में स्वपर हित की मंगल भावना से समर्पित है।

हमें आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि आप प्रस्तुत ग्रंथ के माध्यम से स्व-पर कल्याण की भावना को वृद्धिंगत करते हुए जिनशासन की प्रभावना में भी निमित्त बनेंगे। सुधी पाठकों से सविनय अनुरोध है कि वे प्रस्तुत ग्रंथ से स्वकीय पात्रता के अनुसार आत्मा को पवित्र करने वाली सतत प्रवाही श्रुत गंगा से श्रुतामृत को ग्रहण कर उसका सदुपयोग ही करें। हंसवत्

क्षीरग्राही दृष्टि बनाकर गुणों को ही ग्रहण करें, दोषों का परिमार्जन करने में तत्पर हों। प्रमादवश, अज्ञानतावश हुयी त्रुटियों को या चूक को मूल या चूक समझकर ही विसर्जित कर दें। आप जैसे सुधी पाठक इस ग्रंथ रूपी दधिका में उतरकर नवनीत को ही ग्रहण करें क्योंकि कोई भी ग्वाल या गोपी छाछ ग्रहण करने के उद्देश्य से दधि मंथन नहीं करती। अतः आप भी तदैव प्रवृत्ति करें।

मैं अंतस् की समग्र निष्ठा, भक्ति, समर्पण के साथ सर्वज्ञ देव, श्रुत सिंधु एवं निर्ग्रंथ गुरुओं के चरणों मे अनंतशः प्रणाम निवेदित करता हूँ तथा परम पूज्य आचार्य श्री वसुनंदी जी गुरुदेव के पद कमलों में सिद्ध, श्रुत, आचार्य भक्ति सहित कोटिशः नमन करता हुआ उनके स्वस्थ संयमी जीवन की एवं आत्म ध्यान के संवर्द्धन की भावना करता हूँ।

जिन श्रुताम्बुज चंचरीक

- मुनि प्रज्ञानंद

सम्पादकीय

संसार में जितने भी प्राणी हैं सुख और शांति चाहते हैं। सुख और शांति को प्राप्त करने का अहर्निश पुरुषार्थ भी करते हैं। किन्तु उनका वह पुरुषार्थ यदि मिथ्या होता है तो सुख देने में समर्थ नहीं होता और उस पुरुषार्थ के माध्यम से दु:खों का अंत भी नहीं होता। जिस प्रकार अग्नि के बिना ईंधन जलता नहीं है। दीपक के बिना अंधकार नष्ट नहीं होता उसी प्रकार धर्म के बिना दु:खों का अंत नहीं होता, कर्मों का अंत नहीं होता। भ. महावीर स्वामी की इस पुनीत व शाश्वत परम्परा में, धर्म के मूलत: दो भेद किये- 1. श्रमण धर्म 2. श्रावक धर्म।

श्रमण धर्म में सकल चारित्र का पालन किया जाता है और श्रावक धर्म में चारित्र का एकदेश पालन होता है। श्रावक अणुव्रती होता है और श्रमण महाव्रती। श्रावक के पाँच अणुव्रत होते हैं और उनका संवर्द्धन करने के लिये तीन गुणव्रत भी पालन किये जाते हैं जिससे व्रतों व गुणों की वृद्धि हो, जिससे श्रावक और आगे बढ़े। इसके साथ-साथ मुनिव्रतों या महाव्रतों की शिक्षा व प्रेरणा देने वाले चार शिक्षाव्रतों का भी श्रावक पालन करता है।

साधक 28 मूलगुणों का पालन करते हुये यथायोग्य पाँच प्रकार के चारित्र- 1. सामायिक 2. छेदोपस्थापना 3. परिहार विशुद्धि 4. सूक्ष्म साम्पराय 5. यथाख्यात का पालन करते हैं किन्तु साधक के मूलरूप से एक ही धर्म होता है—समतामय परिणाम। समतामय परिणाम के लिये बाह्य निमित्त भी चाहिये। बाह्य निमित्त के बिना कोई कार्य नहीं होता। जैसा निमित्त होता है वैसा कार्य होता है इसलिये साधक भी अपने परिणामों में समता धारण करने के लिये नियम, संयम आदि का पालन करते हैं और श्रावक समतामय परिणाम बनाने के लिये, राग-द्वेष को हटाने के लिये सामायिक करता है। साधु ध्यान और श्रावक सामायिक करते हैं। दोनों उपयोगी हैं कि इनके बिना आत्म तत्त्व का बोध नहीं हो सकता, आत्मा पर श्रद्धा नहीं हो सकता।

आ. श्री अमितगति स्वामी 11वीं शताब्दी के ऐसे महान आचार्य हुये जो कि माधवसेनाचार्य के प्रशिष्य और नेमिचन्द्र आचार्य के शिष्य थे। माथुर संघीय आचार्य जिन्होंने द्वात्रिंशतिका, तत्त्व भावना, धर्म परीक्षा, सुभाषित रत्न संदोह इत्यादि ग्रंथों का लेखन किया। तत्त्व भावना क्या है? जिस वस्तु का जो पना होता है, 'त्व' अर्थात् पना होता है **''तद्भावास्तत्त्वं''** जिसका जो भाव है वो उसका तत्त्व होता है। तत्त्व भावना स्वाभाव की भावना। जीव का जीवत्व क्या है, धर्म का धर्मत्व क्या है, ज्ञान का ज्ञप्तिपना क्या है, दर्शन का दर्शनत्व क्या है? ये इसका तत्त्व कहलाता है। ये भावना तत्त्व भावना कहलाती है। इस भावना के माध्यम से कोई श्रावक अपनी आत्मा को जानने की चेष्टा कर सकता है और उस स्वरुप को समझ करके, चिंतन करके एक एक अनुपम आनन्द का अनुभव भी कर सकता है। उसी प्रकार श्रमण एक-एक शब्द को अपनी आत्मा में स्थापित करके पुनः उन शब्द के अर्थ जो रस से गुंफित है उनसे निःसृत रस उसे निर्विकल्प ध्यान में पहुँचाने में, शुद्धोपयोग में लीन कराने में निमित्त कारण बनते हैं।

यह (तत्त्व भावना) निःसंदेह द्वादशांग के सार रुप कही जा सकती है। यह तत्त्व भावना आकुल व्याकुल चित्त को निराकुल अवस्था देने वाली है। यह तत्त्व भावना विक्षिप्ति का विनाश करके शांति को देने वाले हैं, सामायिक के लिये आधार शिला है। यह तत्त्व भावना भेद विज्ञान की मूलक है। यह तत्त्व भावना पर से संबंध तोड़कर निज से संबंध जोड़ने वाली है। तत्त्व भावना के 120 काव्य निःसंदेह सबके लिये ग्राह्य हैं।

यहाँ पर तत्त्व भावना के 120 काव्यों का अन्वयार्थ और मूल गाथा को प्रस्तुत किया है। सुधी पाठक इन छंद और काव्यों के माध्यम से उसमें निहित अर्थ को समझने की चेष्टा करेंगे। इस ग्रंथ को एक बार, दो बार ना पढ़ें, बार-बार पढ़ें। क्योंकि जब तत्त्व का चिंतन बार-बार किया जायेगा तब तत्त्व में स्थिरता होती है, पर से विच्छेद होता है। नवघट में 2-4 बूंद पानी डालने से वह घट भरता नहीं है, उस 2-4 बिंदु को तो नवघट तुरंत ही सोख लेता है उसी प्रकार तत्त्व भावना से एक-दो बार पढ़ने से वह अनादि काल के संस्कार सहज में नष्ट नहीं होते, और आत्मा को परमात्मा बनाने की कला को भी आत्मा सीख नहीं पाती। इसलिये यह भावना पुनः पुनः भानी चाहिये जैसे वर्तमान काल में बारह भावना, मेरी भावना, वैराग्य भावना इत्यादि का पाठ

पुण्यात्मा सुधी श्रावक एवं श्रमण नित्य-नित्य करते हैं। एक से अधिक बार भी करते हैं, ऐसे ही ये तत्त्व भावना विस्तार करने से मात्र पाठ के योग्य ही नहीं, चिंतन योग्य है और एक-एक शब्द का चिंतन किया जाना चाहिये। जिनके पास पर्याप्त समय है वे इस वृहद तत्त्वभावना का नित्य पाठ करें अथवा आचार्य श्री की ही लघु काय कृति सामायिक पाठ जिसे द्वात्रिंशतिका कहते हैं उसका भी चिंतन पाठ किया जा सकता है। वर्तमान काल में प्रायः करके सामायिक पाठ के कई अनुवाद भी हुये हैं। कई महानुभाव पाठ करते हैं, कोई हिन्दी में, संस्कृत में, कोई अलग-अलग अनुवाद पढ़ते हैं। किंतु ये तत्त्व भावना श्रमण व श्रावक के द्वारा नित्य पठनीय है। यह अर्थ चिंतनीय है। इसका पद्यानुवाद आदि भी पाठ करने के योग्य है। मधुर कण्ठ से इसका पाठ करने से निःसंदेह अनुपम आनन्द की उपलब्धि होती है।

ग्रंथ सम्पादन में यदि मेरे द्वारा जहाँ कहीं भी त्रुटि रह गई हो तो सुधी पाठक गण हंसवत् गुणग्राही दृष्टि बनाकर इसके गुणों को ग्रहण करें। और प्रमादवश, अज्ञानतावश किंचित् भी त्रुटि रह गई हो, तो हम तक उन त्रुटि को प्रेषित करने का अनुग्रह करें। जिससे आगामी प्रकाशन में उन त्रुटियों का संशोधन किया जा सके। यह ग्रंथ आपके जीवन में तभी सार्थक होगा जब इसका एकान्त में चिंतन और मनन किया जायेगा। और उससे अपने भावों को, विकारों को दूर करने में समर्थ होंगे और तब समझना आपने इस ग्रंथ का सम्पूर्ण मूल्य वसूल कर लिया है। यदि हम किसी ग्रंथ का मूल्य वसूल नहीं करते हैं तो इस ग्रंथ को अपने पास रखना केवल भारभूत तो हो सकता है, पर जीवन का सार नहीं दे सकता। मैं सभी पाठकों के लिये आत्म कल्याण की मंगल भावना भाता हुआ अपनी लेखनी को विराम देता हूँ।

ॐ शांति

वी.नि.सं. 2543 — ॐ ह्रीं नमः

वि.सं. 2074 — निर्ग्रंथ सूरि

कार्तिक सु. 3 — ग्रीन पार्क, दिल्ली

रविवार, 22 अक्टूबर 2017

॥श्री अमितगति आचार्यकृत॥

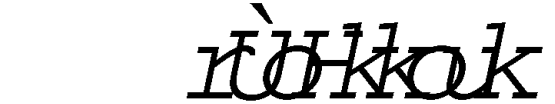

आत्मनिधि या बड़ा सामायिक पाठ

卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐

मंगलाचरण

अर्हंत्सिद्धाचार्य को, वंदि साधु गुणदाय।
जिनवाणी वृष चैत्यजिन, मंदिर नमूं सुध्याय॥1॥

परमातम सम आपको, ध्याय सुगुण उर लाय।
''समताभाव'' प्रकाश के, आतम सुख झलकाय॥2॥

सामायिक के भाव को, कर प्रकाश निज ज्ञान।
भव्यजीव भी रस पियें, यह उपकार पिछान॥3॥

अमितगति आचार्यकृत, तत्वभावना सार।
बालबोध भाषा करूं, भवदधि तारणहार॥4॥

सन्मति वीर सुवीर को, वर्द्धमान महावीर।
विद्यानंद गुरुदेव को, नमों हिये धरि धीर॥5॥

उत्थानिका–सर्व प्रथम चलने में जो हिंसा हुई उसका पश्चाताप करते हैं-

शार्दूलविक्रीडित छन्द

एकद्वित्रिहृषीकवत्प्रभृतयो ये पंचधावस्थिताः।
जीवाः संचरता मया दशदिशाश्चित्तप्रमादात्मना॥
ते ध्वस्ताः यदि लोढ़िताः विघटिताः संघट्टिताः मोटिताः।
मार्गालोचनमोचिना जिन! तदा मिथ्यास्तु मे दुष्कृतम्॥1॥

अन्वयार्थ–(जिन) हे जिनेन्द्र! (चित्तप्रमादात्मना) प्रमाद या आलस्य या असावधानता या कषाय सहित चित्त को करके (मार्गालोचनमोचिना) मार्ग या पथ को देखना छोड़कर (दशदिशः संचरता) पूर्वादि दश दिशाओं में चलते हुए (मया) मेरे से (एक द्वित्रिह्रषीकवत्प्रभृत्यः) एकेन्द्रिय, द्वेन्द्रिय, तेन्द्रिय, आदिक अर्थात् चौन्द्रिय व पंचेन्द्रिय (ये) जो (पंचधा) पांच प्रकार के (जीवाः) संसारी जीव (अवस्थिताः) शास्त्र में स्थापित किए गए हैं (ते) वे जीव (यदि) यदि (ध्वस्ताः) नाश किए गए हों (लोढ़िताः) उलट-पुलट किये गए हों (विघटिताः) अलग-अलग कर दिए गए हों (संघटिताः) मिला दिए गए हों (मोटिताः) पैरों से रौंदे गए हों (तदा) तो (मे) मेरा (दुष्कृतम्) यह पाप (मिथ्या) नाश (अस्तु) हो।

उत्थानिका–हमारा समय शुभ कार्यों में बीते ऐसी भावना करते हैं–

अर्हद्भक्तिपरायणस्य विशदं, जैनं वचोऽभ्यस्यतो।
निर्जिह्वस्य परापवादवदने, शक्तस्य सत्कीर्तने॥
चारित्रोद्यतचेतसः क्षपयतः, कोपादिविद्वेषिणः।
देवाध्यात्मसमाहितस्य सकलाः, सर्प्यंतु मे वासराः॥2॥

अन्वयार्थ–(देव) हे जिनेन्द्रदेव (मे) मेरे (सकलाः) सर्व (वासराः) दिवस (अर्हद्भक्तिपरायणस्य) अर्हन्त की भक्ति की लीनता में (विशदं) निर्मल (जैनं वचो) जिनवाणी के (अभ्यस्यतः) अभ्यास करने में, (परापवादवदने) दूसरों की निन्दा कहने में (निर्जिह्वस्य) जिह्वा रहित रहने में अर्थात् दूसरों की निन्दा न करने में (सत्कीर्तने) संत पुरुषों के गुणों के वर्णन में (शक्तस्य) अपनी शक्ति लगाने में (चारित्रोद्यतचेतसः) चारित्र के लिए उद्यमी चित्त रखने में (कोपादिविद्वेषिणः) क्रोध आदि शत्रुओं को (क्षपयतः) क्षय करने में तथा (अध्यात्मसमाहितस्य) आत्मा के भीतर भले प्रकार लीन होने में (सर्प्यंतु) बीतें।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि मेरे चरित्र में जो दोष लगे हों वे व्यर्थ होवें-

आलस्याकुलितेन मूढ़मनसा सन्मार्गनिर्णाशिना।
लोभक्रोधमदप्रमादमदन द्वेषादिदग्धात्मना।।
यद्देवाचरितं विरुद्धमधिया चारित्रशुद्धेर्मया।
मिथ्या दुष्कृतमस्तु भो जिनपते! तत्त्वत्प्रसादेन मे॥3॥

अन्वयार्थ–(देव) हे भगवान् (आलस्याकुलितेन) आलस्य से भरकर व (मूढ़मनसा) मन में विवेक को छोड़कर मूर्खता धार के (सन्मार्गनिर्णाशिना) मोक्षमार्ग की विराधना करते हुए (लोभक्रोधमदप्रमादमदनद्वेषादिदग्धात्मना) व अपनी आत्मा को क्रोध, लोभ, मान, असावधानी, कामभाव, द्वेष आदि से लिप्त करते हुए (मया) मुझ (अधिया) निर्बुद्धि के द्वारा (यत्) जो कुछ (चारित्रशुद्धेः) चारित्र की शुद्धता से (विरुद्धम्) विपरीत (आचरितं) आचरण किया गया हो (भो जिनपते!) हे जिनेन्द्र भगवान्! (त्वत्प्रसादेन) आपके प्रसाद से (तत्) वह (मे) मेरा (दृष्कृतम्) दुष्कृत या पाप या दोष (मिथ्या) नाश (अस्तु) हो।

उत्थानिका–आगे भावना करते हैं कि मेरा समय धर्म ध्यान व रत्नत्रय की एकता में बीते–

जीवाजीवपदार्थतत्त्वविदुषो बंधास्रवौ रुंधतः।
शश्वत्संवरनिर्जरे विदधतो मुक्तिप्रियं कांक्षतः॥
देहादेः परमात्मतत्त्वममलं मे पश्यतस्तत्त्वतो।
धर्मध्यानसमाधिशुद्धमनसः कालः प्रयातु प्रभो॥4॥

अन्वयार्थ–(प्रभो) हे प्रभु! (जीवाजीवपदार्थतत्त्वविदुषः) जीव और अजीव पदार्थों को जानते हुए (बंधास्रवौ रुंधतः) आस्रव और बंध को रोकते हुए (शाश्वत्) निरन्तर (संवरनिर्जरे विदधतः) संवर और निर्जरा को करते हुए (मुक्तिप्रियं कांक्षतः) मोक्षरूपी प्रिया की चाह रखते हुए (देहादेः) शरीर आदि पर पदार्थों से भिन्न (अमलं) निर्मल (परमात्मतत्त्वं) परमात्मा के स्वरूप को (तत्त्वतः) यथार्थ रूप से (पश्यतः) अनुभव करते हुए और (धर्मध्यान समाधि शुद्ध मनसः) धर्मध्यान और समाधि में शुद्ध मन को लगाते हुए (मे) मेरा (कालः) समय (प्रयातु) बीते।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि उत्तम कार्य वही कर सकता है जिसका संसारवास समाप्त होने को आया है व जो मुक्ति पाने के लिए शीघ्र ही अधिकारी हो गया है–

पृथ्वीवृत्त छंद

कषायमदनिर्जयः सकलसंगनिर्मुक्ता।
चारित्रपरमोद्यमो जननदुःखतो भीरूता।।
मुनीन्द्रपदसेवना जिनवचोरुचिस्त्यागिता।
हृषीकहरिनिग्रहो निकटनिर्वृतेर्जायते।।5।।

अन्वयार्थ–(कषायमदनिर्जयः) क्रोधादि कषायों के मद को जीतना (सकलसंगतिर्मुक्तता) सर्व परिग्रह का त्याग (चरित्रपरमोद्यमो) चारित्र के लिए गाढ़ प्रयत्न (जननदुःखतो भीरूता) संसार के दुःखो से भय (मुनीन्द्रपदसेवना) मुनीश्वरों के चरणों की सेवा (जिनवचोरुचिः) जिनवाणी में रुचि (त्यागिता) सर्व वस्तु का त्याग या एक देश त्याग अथवा दान करना और (हृषीकहरिनिग्रहा) इन्द्रिय रूपी सिंह को वश करना (निकटनिर्वृतेः) जिसके मुक्ति निकट है उस महात्मा के (जायते) ये बात प्रकट होती हैं।

उत्थानिका–आगे भावना भाते हैं कि सुख-दुःख आदि में मेरा भाव क्षमता भाव को भजे क्योंकि यही समता निर्जरा का कारण है–

मंदाक्रांता

विद्विष्टे वा प्रशमवति वा बांधवे वा रिपौ वा।
मूर्खौघे वा बुधसदसि व पत्तने वा वने वा।
संपत्तौ वा मम विपदि वा जीवते वा मृतौ वा।
कालो देव! ब्रजतु सकलः कुर्वतस्तुल्यवृत्तिम्।।6।।

अन्वयार्थ–(देव) हे जिनेन्द्र देव! (मम) मेरा (सकलः) सर्व (कालः) समय (विद्विष्टे वा) मेरे से द्वेष करने वाले में (प्रशमवति वा) अथवा मेरे ऊपर शांत भाव रखने वाले में, (बांधवे वा) बन्धु में (रिपौ वा) अथवा

शत्रु में (मूर्खौघे वा) मूर्खों के समुदाय में (बुधसदसि वा) अथवा बुद्धिमानों की सभा में (पत्तने वा) नगर में (वने वा) अथवा जंगल में (संपत्तौ वा) धनादि की प्राप्ति में (विपदि वा) अथवा आपत्ति में (जीवते वा) जीने में (मृतौ वा) अथवा मरने में (तुल्यवृत्तिम्) समान रूप या समता रूप वर्तन (कुर्वतः) करते हुए (ब्रजतु) बीते।

शिखरिणी छंद

सुखे वा दुःखे वा व्यसन जनके वा सुहृदि वा।
गृहे वारण्ये वा कनकनिकरे वा दृषदि वा।।
प्रिये वानिष्टे वा मम समधियो यांतु दिवसा।
दधानस्य स्वान्ते तव जिनपते! वाक्यमनघम्।।7।। (युगमम्)

अन्वयार्थ–(जिनपते) हे जिनेन्द्र! (सुखे वा) सुख में (दुःखे वा) अथवा दुख में (व्यसनजनके वा) आपत्ति में डालने वाले शत्रु में (सुहृदि वा) अथवा मित्र में (गृहे वा) घर में (अरण्ये वा) अथवा जंगल में (कनकनिकरे वा) सुवर्ण के ढेर में (दृषदि वा) अथवा पाषाण में (प्रिये वा) किसी प्रिय या मनोज्ञ वस्तु में (अनिष्टे वा) अथवा किसी अमनोज्ञ वस्तु में (समधियः) समता बुद्धि को रखते हुए तथा (तव) आपके (अनघम्) पाप रहित या पवित्र (वाक्यं) वचन को (स्वान्ते) अपने मन में (दधानस्य) धारण करते हुए (मम) मेरे (दिवसाः) दिन (यांतु) बीतें।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि उत्तम कार्य करने वाला ऊँची गति को व नीच कार्य करने वाला नीची गति को जाता है–

शार्दूलविक्रीड़ित छंद

ये कार्यं रचयंति निंद्यमधमास्ते यांति निंद्यां गतिम्।
ये वंद्यं रचयंति वन्द्यमतयस्ते यांति वंद्यां पुनः।।
ऊर्ध्वं यान्ति सुधागृहं विदधतः कूपं खनंतस्त्वधः।
कुर्वन्तीति विबुध्य पापविमुखाः धर्मं सदा कोविदाः।।8।।

अन्वयार्थ–(ये) जो (अधमाः) नीच लोग (निंद्यम) निन्दा के लायक बुरे (कार्यं) काम को (रचयन्ति) करते हैं (ते) वे (निद्यां) निन्दनीय या बुरी (गतिम्) गति को (यांति) पहुंचते हैं (पुनः) परन्तु (ये) जो (वंद्यमतयः) प्रशंसनीय बुद्धिधारी (वंद्यं) प्रशंसा के लायक उत्तम कार्य को (रचयंति) करते हैं तो वे (वंद्यां) माननीय या उत्तम गति को (यांति) जाते हैं, जैसे (सुधागृहं) राजमहल को (विदधतः) बनाने वाले (ऊर्ध्वं) ऊपर को (तु) परन्तु (कूपं) कुएं को (खनंतः) खोदने वाले (अधः) नीचे को (यांति) जाते हैं (इति) ऐसा (विबुध्य) भले प्रकार जानकर (पापविमुखाः) पापों से मुँह मोड़ने वाले (कोविदाः) बुद्धिमान पुरुष (सदा) निरन्तर (धर्म) धर्म को (कुर्वन्ति) साधते रहते हैं।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जो लोग शरीर के सुख के लिए कुचेष्टा करते हैं वे अपनी शक्ति को नष्ट करते हैं–

चेष्टाश्चित्तशरीरबाधनकरीः कुर्वन्ति चित्तेऽधमाः।
सौख्यं यस्य चिकीर्षवोऽक्षवशगा लोकद्वयध्वंसिनीः॥
कायो यत्र विशीर्यते, स शतधा मेघो यथा शारद-
स्तत्रामी बत! कुर्वते किमधियः पापोद्यमं सर्वदा॥9॥

अन्वयार्थ–(अक्षवशगाः) इन्द्रियों के वश में पड़े हुए (अधमाः) नीच पुरुष (यस्य) जिस शरीर के (सौख्यं) सुख को (चिकीर्षवः) चाहते हुए (चित्तशरीरबाधनकरीः) मन और शरीर को बाधा देने वाली तथा (लोकद्वयविध्वंसिनीः) इस लोक व परलोक दोनों को बिगाड़ने वाली (चेष्टाः) क्रियाएँ (चित्ते) अपने मन में (कुर्वन्ति) करते रहते हैं व (यत्र) जिस संसार में (स कायः) वही शरीर (यथा) जैसे (शारदः) शरद ऋतु का (मेघो) मेघ विघट जाता है जैसे (शतधा) सैकड़ों तरह से (विशीर्यते) नष्ट हो जाता है (तत्र) उस संसार में (अमी) ये (अधियः) मूर्ख लोग (किं) क्यों (सर्वदा) सदा (पापोद्यमं) पाप का उद्यम (कुर्वते) करते रहते हैं (बत!)यह बड़े खेद की बात है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि मोह में अंधी हुई बुद्धि संसार बढ़ाने वाली और मोक्ष को बहुत दूर रखने वाली है–

कांतेयं तनुभूरयं सुहृदयं मातेयमेषा स्वसा।
जामेयं रिपुरेष पत्तनमिदं सद्मेदमेतद्वनम्॥
एषा यावदुदेति बुद्धिरधमा संसारसंवर्द्धिनी।
तावद्गच्छति निर्वृतिं बत कुतो दुःखद्रुमोच्छेदिनीं॥10॥

अन्वयार्थ–(इयं) यह (कांता) स्त्री है, (अयं तनुभूः) यह पुत्र है, (अयं) यह (सुहृत) मित्र है (इयम्) यह (माता) मां है (एषा) यह (स्वसा) बहिन है (इयं) यह (जामा) पुत्री है (एषः) यह (रिपुः) शत्रु है (इदं) यह (पत्तनम्) नगर है (इदम्) यह (सद्म) घर है (एतत्) यह (वनं) बाग है (यावत्) जब तक (एषा) ऐसी (अधमा) तुच्छ व (संसारसंवर्द्धिनी) संसार को बढ़ाने वाली (बुद्धिः) बुद्धि (उदेति) पैदा होती रहती है (तावत्) तब तक (कुतः) किस तरह से (दुःखद्रुमोच्छेदिनी) दुःखरूपी वृक्षों को छेदने वाली (निर्वृतिं) मुक्ति को (गच्छति) यह जीव पहुंच सकता है (बत) यह बड़े खेद की बात है–

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि भेद विज्ञान से ही मुक्ति हो सकती है–

नाहं कस्यचिदस्मि कश्चन न मे भावः परो विद्यते।
मुक्त्वात्मानमपास्तकर्मसमितिं ज्ञानेक्षणालंकृतिम्॥
यस्यैषा मतिरस्ति चेतसि सदा ज्ञातात्मतत्वस्थितेः।
बंधस्तस्य न यंत्रितं त्रिभुवनं संसारिकैर्बन्धनैः॥11॥

अन्वयार्थ–(ज्ञानेक्षणालंकृतिम्) ज्ञान दर्शन स्वभाव से शोभायमान तथा (अपास्तकर्मसमितिं) द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म के समुदाय को दूर रखने वाले (आत्मानम्) आत्मा को (मुक्त्वा) छोड़कर (कश्चन) कोई भी (परः) अन्य (भावः) भाव (मे) मेरा (न) नहीं (विद्यते) है (न) और न (अहं) मैं (कस्यचित्) किसी अन्य का (अस्मि) हूँ (एषा) ऐसी (मतिः) बुद्धि (ज्ञातात्मतत्वस्थितेः) आत्मस्वरूप की मर्यादा को जानने वाले (यस्य) जिस किसी के (चेतसि) चित्त में (सदा) नित्य (अस्ति) रहा करती है (तस्य) उस महात्मा के (बंधः) कर्मों का बंध नहीं होता, यों तो (त्रिभुवन) तीनों लोकों के संसारी प्राणी (संसारिकैः बन्धनैः)

संसार के बंधनों से (यंत्रितं) जकड़े हुए हैं।

उत्थानिका–फिर भी उपदेश करते हैं कि संसार के मोह में पड़ के आत्म कल्याण करो–

चित्रोपाय विवर्धितोपि न निजो देहोपि यत्रात्मनो।
भावाः पुत्रकलत्रमित्रतनयाजामातृतातादयः।
तत्र स्वं निज कर्मपूर्ववशगाः केषां भवन्ति स्फुटं।
विज्ञायेति मनीषिणा निजमतिः कार्या सदात्मस्थिता॥12॥

अन्वयार्थ–(यत्र) जिस संसार में (चित्रोपायविवर्धितः) अनेक उपायों से पालन-पोषण करके बढ़ाई हुई (अपि) भी (निजदेहोऽपि) यह अपनी देह भी (आत्मनः न) अपनी नहीं होती है (तत्र) वहाँ (निजपूर्व कर्मवशगः) अपने-अपने पूर्व में बांधे हुए कर्मों के वश पड़े हुए (पुत्रकलत्रमित्रतनया जामातृतातादयः) पुत्र, स्त्री, मित्र, पुत्री, जमाई व पिता आदिक (भावाः) बिल्कुल जुदे पदार्थ (केषां) किन जीवों के (स्वं) अपने (स्फुटं) प्रगटपने (भवन्ति) हो सकते हैं (इति) ऐसा (विज्ञाय) जान करके (मनीषिणा) बुद्धिमान मानव को (सदा) सदा (निजमतिः) अपनी बुद्धि (आत्मस्थिता) अपनी आत्म में स्थिर (कार्या) करनी उचित है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि धर्म ही जीव का परम मित्र है–

दुर्दामोच्छितकर्मशैलदलने यो दुर्निवारः पविः।
पोतो दुस्तरजन्मसिंधुतरणे यः सर्वसाधारणः॥
यो निःशेषशरीरिरक्षणविधौ शश्वत्पितेवादृतः।
सर्वज्ञेन निवेदितः स भवतौ धर्मः सदा नोऽवतु॥13॥

अन्वयार्थ–(यः) जो (दुर्दामोच्छितकर्मशैलदलने) कठिनता से नाश करने योग्य बड़े कठोर कर्मरूपी पर्वतों को चूर्ण करने में (दुर्निवारः) किसी से हटाया न जा सके ऐसा (पविः) वज्र है (यः) जो (दुस्तरजन्म सिंधुतरणे) कठिनता से पार होने योग्य ऐसे संसार समुद्र से पार ले जाने में (सर्वसाधारणः) सर्व जीवों के लिए एक रूप सामान्य (पोतः) जहाज

है (यः) जो (निःशेषशरीरिरक्षणविधौ) सर्व शरीर धारी प्राणियों की रक्षा करने में (पिता इव) पिता के समान (शाश्वत) सदा (आदृतः) माना गया है (सः) वह (सर्वज्ञेन) सर्वज्ञ भगवान से (निवेदितः) कहा हुआ (धर्मः) धर्म (नः) हमें (भवतः) संसार से (सदा) हमेशा (अवतु) रक्षित करे।

उत्थानिका–आगे जिनवाणी से प्रार्थना करते हैं–

यन्मात्रापदवाक्यवाच्यविकलं किंचिन्मयाभाषितम्।
बालस्यास्य कषायदर्पविषयव्यामोहसक्तात्मनः॥
वाग्देवी जिनवक्त्रपद्मनिलया तन्मे क्षमित्वाखिलं।
दत्वा ज्ञान विशुद्धिमूर्जिततमां देयादनिंद्यं पदं॥14॥

अन्वयार्थ–(मया) मेरे से (यत्किंचित्) जो कुछ (मात्रापदवाक्यवाच्य-विकलं) मात्रा, पद, वाक्य व अर्थ में कम बढ़ (भाषितं) कहा गया हो (तत् अखिलं) उस सर्व को (क्षमित्वा) क्षमा करके (कषायदपर्वविषय-व्यामोहसक्तात्मनः) क्रोधादि कषाय, गर्व व विषयों की चाहना में आसक्त (अस्य बालस्य मे) ऐसा जो बालक समान मैं उसे (जिनवक्त्रपद्मनिलया) जिनेन्द्र के मुख कमल में निवास करने वाली (वाग्देवी) सरस्वती देवी अर्थात् जिनवाणी (ऊर्जिततमां) उत्कृष्ट (ज्ञानविशुद्धिं) ज्ञान की निर्मलता को (दत्वा) देकर (अनिंद्यं पदं) परम प्रशंसनीय मोक्षपद (देयात्) प्रदान करें।

उत्थानिका–आगे साधक विचारता है कि मेरी बुद्धि ज्ञान होने पर भी विषयों से क्यों विरक्त नहीं होती है–

निःसारा भयदायिनोऽसुखकरा भोगाः सदा नश्वराः।
निंद्यस्थानभवार्तिभावजनकाः विद्याविदां निंदिता॥
नेत्थं चिंतयतोपि मे बत मतिर्व्यावर्तते भोगतः।
कं पृच्छामि कमाश्रयामि कमहं मूढ़ः प्रपद्ये विधिम्॥15॥

अन्वयार्थ–(भोगाः) ये इन्द्रियों के भोग (निःसारा) असार अर्थात् सार रहित तुच्छ जीर्ण तृण के समान हैं (भयदायिनः) भय को पैदा करने वाले

हैं (असुखकराः) आकुलता भय कष्ट को उत्पन्न करने वाले हैं वह (सदा) सदा ही (नश्वराः) नाश होने वाले हैं (निंद्यस्थानभवार्तिजनकाः) दुर्गति में जन्म कराकर क्लेश को पैदा करने वाले हैं तथा (विद्याविदां) विद्वानों के द्वारा (निंदिताः) निंदनीय हैं (इत्थं) इस तरह (चिंतयतः अपि) विचार करते हुए भी (मे) मेरी (मतिः) बुद्धि (बत) खेद की बात है कि (भोगतः) भोगों से (न) नहीं (व्यावर्तते) हटती है तब (अहं) मैं (मूढ़ः) बुद्धि रहित (कम्) किसको (पृच्छामि) पूछूं (कम्) किसका (आश्रयामि) सहारा लूं (कम्) कौन सी (विधिम्) युक्ति (प्रपद्ये) करूं।

उत्थानिका–आगे भावना करने वाला विचारता है कि श्री जिनेन्द्र के चरण मेरे हृदय में सदा जमे रहें यही एक उपाय है–

मोहध्वान्त मनेकदोषजनकं मे भर्त्सितुं दीपका-
वुत्कीर्णाविव कीलिताविव हृदि स्यूताविवेन्द्रार्चितौ॥
आश्लिष्टाविव बिंबिताविव सदा पादौ निखाताविव।
स्थेयास्तां लिखिताविवाघदहनौ बद्धाविवार्हस्तव॥16॥

अन्वयार्थ–(अर्हम्) हे अर्हन्त देव (मे) मेरे (हृदि) हृदय में (अनेकादोषजनकं) अनेक रागादि दोषों को पैदा करने वाले (मोहध्वांतं) ऐसे मोहरूपी अंधेरे को (भर्त्सितुं) हटाने के लिए (दीपकौ) दीपक के समान (इन्द्रार्चितौ) इन्द्रों के द्वारा पूजने योग्य तथा (अघदहनौ) पापों को जलाने वाले (तव) आपके (पादौ) दोनों चरण (सदा) हमेशा (स्थेयास्तां) ठहर जावें (उत्कीर्णौ इव) मानों दिन में अंकित हो जावें (कीलितौइव) या माने कील के समान गड़ जावें? (स्यूतौइव) या मानो सी जावें (अश्लिष्टौ इव) या मानो चस्पा हो जावें (बिंबित्तौ इव) या मानो छाया की तरह जम जावें (निखातौ इव) या मानो जड़ हुए के समान हो जावें (लिखितौ इव) या मानों लिख दिए जावें (बद्धौ इव) या मानों बांध दिए जावें अर्थात् मैं कभी आप के चरणों को न भूलूं।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि पर का संयोग न रहना ही सुखकार है–

संयोगेन दुरंतकल्मषभुवा दुःखं न किं प्रापितो।
येन त्वं भवकानने मृतिजराव्याघ्रव्रजाध्यासिते॥
संगस्तेन न जायते तव यथा स्वप्नेऽपि दुष्टात्मना।
किंचित्कर्म तथा कुरुष्वहृदये कृत्वा मनो निश्चलम्॥17॥

अन्वयार्थ–(मृतिजराव्याघ्रव्रजाध्यासिते) मरण और जन्म रूपी बाघों के समूह से भरे हुए (भवकानने) इस संसार वन में (दुरंतरकल्मषभुवा) तीव्र पाप को पैदा करने वाले (येन) जिसके (संयोगेन) संयोग से (त्वं) तुमने (किं दुखं) क्या-क्या दुःख (न) नहीं (प्रापितः) पाया है (तेन) उस (दुरात्मना) पापी के साथ (तव संगः) तेरा संग (यथा) जैसे (स्वप्नेऽपि) स्वप्न में भी (न जायते) नहीं हो (तथा) तैसे (किंचित् कर्म) कोई काम (निश्चलं) स्थिर (मनः) मन को (कृत्वा) करके (हृदये) हृदय के भीतर (कुरुष्व) कर।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि यद्यपि यह मानव देह महान अपवित्र है तथापि इससे अपना कल्याण कर लेना उचित है–

दुर्गंधेन मलीमसेन वपुषा स्वर्गापवर्गश्रियः।
साध्यंते सुखकारिणा यदि तदा संपद्यते का क्षतिः॥
निर्माल्येन विगर्हितेन सुखदं रत्नं यदि प्राप्तये।
लाभः केन न मन्यते बत तदा लोकस्थितिं जानता॥18॥

अन्वयार्थ–(यदि) यदि (दुर्गंधेन) इस दुर्गंध से भरे हुए तथा (मलीमसेन) मलीन (वपुषा) शरीर से (सुखकारिणाः) सुख को करने वाली (स्वर्गापवर्गश्रियः) स्वर्ग और मोक्ष की संपत्तियां (साध्यंते) प्राप्त की जाती हैं (तदा) तब (का) क्या (क्षतिः) हानि (संपद्यते) होती है। (यदि) यदि (विगर्हितेन) निंदनीय (निर्माल्येन) निर्माल्य के द्वारा (सुखदं रत्नं) सुखदाई रत्न (प्राप्यते) मिल जावें (तदा) तब (लोकस्थितिं) जगत की मर्यादा को (जानता) जानने वाले (केन) किस पुरुष से (लाभः) लाभ (न मन्यते) न माना जाएगा (बत) ये बड़े खेद की बात है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि बुद्धिमानों को उचित है कि सर्व संकटों को दूर करने वाले जैनधर्म का पालन करें–

मृत्यूत्पत्तिवियोगसंगमभयव्याध्याधिशोकादयः।
सूद्यंते जिनशासनेन सहसा संसारविच्छेदिना॥
सूर्येणेव समस्तलोचनपथ प्रध्वंसबद्धोदया।
हन्यंते तिमिरोत्कराः सुखहरा नक्षत्रविक्षेपिणा॥19॥

अन्वयार्थ–(नक्षत्रविक्षेपिणा सूर्येणेव) जैसे नक्षत्रों को छिपाने वाले सूर्य के द्वारा (समस्तलोचनपथप्रध्वंसबद्धोदयाः) सबकी आंखों में देखने की शक्ति को रोकने वाले (सुखहराः) और सुख को हरने वाले (तिमिरोत्कराः) अंधकार के समूह (हन्यंते) नाश कर दिए जाते हैं वैसे ही (संसारविच्छेदिना) संसार को नाश करने वाले (जिनशासनेन) जिनशासन या जैनधर्म के द्वारा (मृत्युत्पत्तिवियोग संगमभयव्याध्या धिशोकादयः) मरण, जन्म, इष्टवियोग, अनिष्ट, संयोग, भय, रोग, मन का क्लेश, शोक आदि (सहसा) एकदम (सूद्यंते) दूर कर दिए जाते हैं।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जिसका लक्ष्य शुद्धात्मा की तरफ़ है वही शुद्धात्म भाव को पाता है–

चित्रारंभप्रचयनपरा सर्वदा लोकयात्रा।
यस्य स्यान्ते स्फुरदि न मुनेर्मुष्णती लोकयात्राम्॥
कृत्वात्मानं स्थिरतरमसावात्मतत्त्वप्रचारे।
क्षिप्त्वाशेषं कलिलनिचयं ब्रह्मसद्म प्रयाति॥20॥

अन्वयार्थ–(यस्य) जिस (मुनेः) मुनि के (स्वान्ते) अंतःकरण में (चित्रारंभप्रचयनपरा) नाना प्रकार हिंसादि आरंभ में लगने वाली (लोकयात्राम् मुष्णती) व मोक्ष की यात्रा को रोकने वाली (लोकयात्रा) लौकिक प्रवृति (सर्वदा) कभी भी (न स्फुरति) नहीं प्रकट होती है (असौ) वही साधु (आत्मतत्त्वप्रचारे) आत्मतत्त्व के मनन में (स्थिरतरं) अतिदृढ़ (आत्मानं) अपने आत्मा को (कृत्वा) करके (अशेषं) सर्व (कलिलनिचयं) कर्मों के मैल के ढेर को (क्षिप्त्वा) दूर फेंककर (ब्रह्मसद्म) ब्रह्मलोक या सिद्धलोक को (प्रयाति) चला जाता है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि कामविकार बड़ा प्रबल है, इसने सर्व जगत

को वश कर लिया है–

नो वृद्धा न विचक्षणा न मुनयो न ज्ञानिनो नाधमाः।
नो शूरा न विभीरवो न पशवो न स्वर्गिणो नांडजाः॥
त्यज्यंते समवर्तिनैव सकला लोकत्रयव्यापिना।
दुर्वारिण मनोभवेन नयता हत्वांगिनी वश्यता॥21॥

अन्वयार्थ–(समवर्तिना इव) समवर्ती जो यमराज या मरण उसके समान (लोकत्रयव्यापिना) तीन लोक व्यापी (दुर्वारिण) महान कठिनता से दूर करने योग्य तथा (अंगिनः) शरीरधारियों को (हत्वा) मार करके (वश्यतां नयता) अपने वश करने वाले (मनोभवेन) कामदेव के द्वारा (नो वृद्धाः) न तो वृद्ध (न विचक्षणाः) न चतुर (न मुनयः) न साधुजन (न ज्ञानिनः) न ज्ञानी लोग (न अधमाः) न नीच पुरुष (नो शूराः) न वीर मानव (न विभीरवः) न डरपोक जन (न पशवः) न पशुगण (न स्वर्गिणः) न स्वर्ग के देवता (न अण्डजाः) न पक्षीगण (सकलाः) ये सर्व ही (न त्यज्यन्ते) नहीं छोड़े जाते हैं।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि इस काम भाव को वैराग्य व आत्मध्यान से जीतना उचित है–

शश्वद्दुःसहदुःखदानचतुरो वैरी मनोभूरयम्।
ध्यानेनैवनियम्यते न तपसा संगेन न ज्ञानिनाम्॥
देहात्मव्यतिरेकबोधजनितं स्वाभाविकं निश्चलं।
वैराग्यं परमं विहाय शमिनां निर्वाणदानक्षमम्॥22॥

अन्वयार्थ–(अयम्) यह (मनोभूः) कामभाव (शश्वत्) सदा ही (दुःसहदुःखदानचतुरः) असहनीय दुःख देने में चतुर (वैरी) शत्रु है। इसको (ध्यानेन एव) आत्मध्यान से ही (नियम्यते) वश किया जा सकता है। (न तपसा) न तो तप करने से (न ज्ञानिनाम् संगेन) न ज्ञानियों की संगति से यह वश होता है अथवा (शमिनां) शांत चित्त वालों को (निर्वाणदानक्षमं) मुक्ति देने में समर्थ जो (देहात्मव्यतिरेकबोधजनितं) देह और आत्मा के भिन्न-भिन्न ज्ञान से उत्पन्न (निश्चलं) निश्चल (स्वाभाविकं)

व स्वाभाविक (परमं) उत्कृष्ट (वैराग्यं) वैराग्य है (विहाय) उसको छोड़कर और कोई उपाय नहीं है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जो अविवेकी हैं वे सदा संसारचक्र में भ्रमण करते रहते हैं–

कः कालो मम कोऽधुना भवमहं वर्ते कथं सांप्रतम्।
किं कर्मात्र हितं परत्र मम किं-किं मे निजं किं परम्।
इत्थं सर्वविचारणाविरहिता दूरीकुतात्मक्रियाः।
जन्मांभोधिविवर्तपातनपराः कुर्वन्ति सर्वाः क्रियाः॥23॥

अन्वयार्थ–(मम) मेरा (कः) कौन सा (कालः) काल है (अधुना) अब (कः) कौन सा (भवम्) जन्म है (सांप्रतम्) वर्तमान में (अहं) मैं (कथं) किस तरह (वर्ते) बर्ताव करूँ (अत्र) इस जन्म में (मम) मेरा (किं कर्म) कौन सा कार्य (हितं) हितकारी है (परत्र) पर जन्म में (मे) मेरा (निज) अपना (किं) क्या है (परम्) पर (किं) क्या है (इत्थं) इस प्रकार की (सर्वविचारणाविरहिता) सर्वविवेक बुद्धि को न करते हुए (दूरीकृतात्मक्रियाः) तथा आत्मा का आचार दूर ही रखते हुए जगत के जन (जन्मांभोधिविवर्तपातनपराः) संसार-समुद्र के भँवर में पटकने वाले (सर्वाःक्रियाः) सर्व आचरणों को (कुर्वन्ति) करते रहते हैं।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि साधु मार्ग ही मुक्ति का कारण है–

शार्दूलविक्रीड़ित छन्द

येषां काननमालयं शशधरो दीपस्तमश्छेदकः।
भैक्ष्यं भोजनमुत्तमं वसुमती शय्या दिशस्त्वम्बरम्॥
संतोषा मृतपानपुष्टवपुषो निर्धूय कर्माणि ते।
धन्या यांति निवासमस्तविपदं दीनैर्दरापं परैः॥24॥

अन्वयार्थ–(येषां) जिन महात्माओं का (आलयं) घर (काननं) जंगल है, (तमश्छेदकः) अंधकार को नाशने वाला (दीपः) दीपक (शशधरः)

चन्द्रमा है, (उत्तमं भोजनं) उत्तम भोजन (भैक्ष्यं) भिक्षा द्वारा हाथ में रखा हुआ भोजन लेना है, (शय्या) सोने का पलंग (वसुमती) भूमि है, (तु) तथा (अम्बरं) कपड़ा (दिशः) दिशाएं हैं (ते) वे (संतोषामृत-पानपुष्टवपुषः) संतोष रूपी अमृत के पान से अपने शरीर को पुष्ट करने वाले (धन्याः) धन्य साधु (कर्माणि) कर्मों को (निर्धूय) धोकर (परैः दीनैः) दूसरे दीन पुरुषों से (दुरापं) न प्राप्त करने योग्य (अस्त-विपदं) सर्व आपत्तियों से रहित निराकुल (निवासं) मोक्ष स्थान को (यांति) प्राप्त कर लेते हैं।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जो पर पदार्थों पर स्नेह करते हैं वे आत्महित से गिर जाते हैं–

माता मे मम गेहनी मम गृहं मे बांधवाः मेऽगंजाः।
तातो मे मम संपदो मम सुख मे सज्जना मे जनाः॥
इत्थं घोरममत्वतामसवशव्यस्तावबोधस्थितः।
शर्माधानविधानतः स्वहिततः प्राणी सनीस्रस्यते॥25॥

अन्वयार्थ–(मे माता) यह मेरी माता है (मम गेहनी) यह मेरी स्त्री है (मम गृहं) यह मेरा घर है (मे बांधवाः) ये मेरे बंधुजन हैं (मे अंगजाः) ये मेरे पुत्र हैं (मे तातः) ये मेरे पिता हैं (मम संपदः) यह मेरा धन है (मम सुखं) यह मेरा है (मे सज्जनाः) ये मेरे हितैषीजन हैं (मे जनाः) ये मेरे परिवार के लोग हैं (इत्थं) इस तरह के (घोरममत्वतामस वशव्यस्ताव बोधस्थितिः) भयानक ममता रूप अंधकार से जिसका ज्ञान अस्त हो रहा है ऐसा (प्राणी) प्राणी (शर्माधानविधानतः) सच्चे सुख को प्राप्त कराने वाले (स्वहिततः) अपने हितकारी कार्य से (सनीस्रस्यते) दूर भागता जाता है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि पर पदार्थों के वियोग होने पर शोक न करना चाहिए–

विख्यातौ सहचारितापरिगतावाजन्मनायौ स्थिरौ।
यत्रावार्यरयौ परस्पर मिमौ विश्लिष्यतो गांगिनौ॥

खेदस्तत्र मनीषिणा ननु कथं बाह्ये विमुक्ते सति।
ज्ञात्वेतीह विमुच्यतामनुदिनं विश्लेषशोक व्यथा॥26॥

अन्वयार्थ–(यत्र) जहाँ (यौ) ये जो (अंगागिनौ) दोनों शरीर तथा शरीरधारी जीव हैं (विख्यातौ) सो बड़े मशहूर हैं (सहचारिता परिगतौ) अनादिकाल से साथ-साथ आते चले आ रहे हैं (आजन्मनायौ स्थिरौ) जन्म से लेकर मरण पर्यन्त दोनों स्थिर रहते हैं (इमौ) इन दोनों को (परस्परं) एक दूसरे से (अवार्यरयौ) विरह करना बड़ा ही कठिन है। तो भी (विश्लिष्यतः) इन दोनों का परस्पर वियोग हो जाता है (तत्र) वहां (बाह्ये) बाहरी वस्तु स्त्री पुत्रादि के (विमुक्ते सति) छूट जाने पर (मनीषिणा) बुद्धिमानुष को (ननु कथं श्वेदः) क्यों शोक करना चाहिए? इस जगत में (इति) ऐसा (ज्ञात्वा) जानकर (अनुदिनं) प्रतिदिन (विश्लेषशोक व्यथा) बाहरी वस्तुओं के शोक के कष्ट को (विमुच्यताम्) छोड़ देना ही उचित है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि पेट की चिंता बड़ी दुःखदायी है। यह चिंता धर्म, यश, सुख का नाश करती है–

तिर्यंचस्तृणपर्णलब्धधृतयः सृष्टाः स्थलीशायिनः।
चिंतानन्तरलब्धभोगविभवाः देवाः समं भोगिभिः।
मर्त्यानां विधिना विरुद्धमनसा वृत्तिः कृता सा पुनः।
कष्टं धर्मयशः सुखानि सहसा या सूदते चिंतिता॥27॥

अन्वयार्थ–(विरुद्धमनसा) विपरीत मन वाले (विधिना) कर्मरूपी ब्रह्मा ने (तिर्यंचः) पशुओं को (तृणपर्णलब्धधृतयः) तिनके और पत्तों को खाकर संतोष रखने वाले व (स्थलीशायिनः) जमीन पर शयन करने वाले तथा (भोगिभिः सह) भोगभूमियों के साथ-साथ (देवाः) देवों को (चिन्तानन्तरलब्धभोग विभवाः) चिन्ता करते ही भोगों को भोगने वाले व ऐश्वर्यवान (सृष्टाः) रचे (पुनः) फिर (मर्त्यानां) कर्मभूमि के मनुष्यों की (सा वृत्तिः) ऐसी आजीविका की पद्धति (कृता) कर दी (या चिंतिता) की जिसकी चिंता (सहसा) शीघ्र ही (धर्मयशः सुखानि) धर्म, यश तथा सुखों को (सूदते) नाश कर देती है (कष्टं) यह बड़े दुःख की बात है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि अज्ञानी जीव को शांत सुख की इच्छा नहीं होती–

मालिनीवृत्त

भजसि दिविजयोषा यासि पातालमंग।
भ्रमसि धरणिपृष्ठं लिप्स्यसे स्वान्तलक्ष्मीम्॥
अभिलषसि विशुद्धां व्यापिनी कीर्तिकान्तां।
प्रशममुखसुखाब्धिं गाहसे त्वं न जातु॥28॥

अन्वयार्थ–(अंग) हे मन! तू कभी तो (दिविजयोषा) देवों की स्त्रियों को (भजसि) भोगना चाहता है (यासि पातालं) कभी तू पाताल में चला जाता है (धरणिपृष्ठंभ्रमसि) कभी पृथ्वी के ऊपर घूमता है (स्वान्तलक्ष्मीम्) कभी निज मन के अनुकूल लक्ष्मी को (लिप्स्यसे) प्राप्त करना चाहता है, कभी (विशुद्धां) अति उज्ज्वल (व्यापिनी) जगत में फैलने वाली (कीर्तिकांता) कीर्तिरूपी स्त्री को (अभिलषसि) चाहता है परन्तु (त्वं) तू (जातु) कभी भी (प्रशममुखसुखाब्धिं) शांतिमय सुख समुद्र में (न गाहसे) नहाना नहीं चाहता है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि यह मन कभी जिनवाणी का सेवन नहीं करता है–

भोक्तुं भोगिनितंबिनीसुखमधश्चिंचतां पनीपत्स्यसे।
प्राप्तुं राज्यमनन्यलभ्यविभवं क्षोणीं चनीकस्यसे॥
लप्तु मन्मथमंथराः सुर वधूर्नाकं चनीस्कद्यसे।
रे भ्रान्त्या ह्यमृतोपमं जिनवचस्त्वं नापनीपद्यसे॥29॥

अन्वयार्थ–(रे) रे मन (त्वं) तू कभी तो (अधः) पाताल में जाकर (भोगिनितंबिनीसुखं) नागकुमारी देवियों के सुख को (भोक्तुं) भोगने के लिए (चिंता) चिंता (पनीपत्स्यसे) करता रहता है, कभी (अनन्यलभ्यविभवं) दूसरे के पास प्राप्त न हो सके ऐसी विभूति वाले (राज्यं) चक्रवर्ती के राज्य को (प्राप्तुं) प्राप्त करने के लिए (क्षोणीं) इस पृथ्वी पर (चनीकस्यसे) आने की इच्छा किया करता है तथा कभी (मन्मथमंथराः) काम से

उन्मत्त ऐसी (सुरवधू:) स्वर्गवासी देवों की देवागंनाओं को (लप्तुं) पाने के लिए (नाकं) स्वर्ग में (चनीस्यद्यसे) जाने को उत्कंठा किया करता है (भ्रान्त्या) इस भ्रम में पड़कर (हि) असल में (ह्यमृतोपमं) अमृत के समान सुखदाई (जिनवच:) जिनवचन को (नापनीपद्यसे) नहीं प्राप्त करता है अर्थात् जिनवाणी के आनंद के लेने से दूर-दूर भागता है यही खेद है।

उत्थानिका–फिर भी कहते हैं कि हे मन! तू संसार वन में भ्रमण मत कर–

भीमे मन्मथलुब्धके बहुविधव्याध्याधिदीर्घद्रुमे।
रौद्रारंभह्रषीकपाशिकगणे भृज्जद्वतैणद्विषि॥
मा त्वं चित्तकुरंग! जन्म गहने जातुभ्रमी ईश्वर।
प्राप्तुं ब्रह्मपदं दुरापमपरैर्यद्यस्ति वांछातव॥30॥

अन्वयार्थ–(ईश्वरचित्तकुरंग) हे समर्थ मनरूप हिरण (यदि) (तव वाँछा) तेरी इच्छा (अपरै:) दूसरों से (दुरापम्) कठिनता से प्राप्त होने योग्य ऐसे (ब्रह्मपदं), आत्मीक मोक्ष पद को (प्राप्तुं) पाने की हो तो तू (मन्मथलुब्ध के) कामदेवरूपी पारधी से वासित (बहुविधव्याधि दीर्घद्रुमे) नाना प्रकार के रोग व मानसिक कष्टों के बड़े-बड़े वृक्षों से भरे हुए (रौद्रारंभह्रषीकपाशिकगणे) तथा भयानक आरंभ कराने वाले इंद्रियरूपी भीलगणों से पूरित तथा (ऐणद्विषि) मनरूपी हिरण के शत्रुओं से युक्त भयानक (जन्मगहने) संसाररूपी वन में (वत) व्यर्थ ही (त्वं) तू (जातु मा भ्रमी) कभी भ्रमण न कर।

उत्थानिका–आगे श्री जिनेन्द्र से प्रार्थना करते हैं कि मुझे उत्तम-उत्तम गुणों की प्राप्ति होवे–

हरिणी वृत्ति

व्यसननिहतिर्ज्ञानोद्युक्तिर्गुणोज्ज्वलसंगति:।
करणविजितर्जन्मत्रस्ति: कषायनिराकृति:॥
जिनमतरति: संगत्यक्तिस्तपश्चरणाध्वनि।
तरितुमनसो जन्मांभोधिं भवन्तु जिनेन्द्र! मे॥31॥

अन्वयार्थ–(जिनेन्द्र) हे जिनेन्द्र भगवान! (जन्मांभोधिं) संसार समुद्र को (तरितुमनसः) तिरने की मनशा रखने वाले (मे) मेरे को (तपश्चरणध्वनि) तप के साधन के मार्ग में (व्यसन निहतिः) द्यूत रमण आदि सातों व्यसनों का नाश (ज्ञानाद्युक्तिः) ज्ञान की उन्नति (गुणोज्ज्वलसंगतिः) निर्मल गुण वालों की संगति (करणविजितः) इंद्रियों की विजय (जन्मत्रस्तिः) संसार से भय (कषायनिराकृतिः) क्रोधादि कषायों का त्याग इतनी बातें (भवन्तु) प्राप्त होवें।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि संसार वन में वास करना दुःखदायक है–

चित्रव्याघातवृक्षे विषयसुखतृष्णास्वादनासक्तचित्ताः।
निस्त्रिंशैरारमन्तो जनहरिणगणाः सर्वतः संचरद्भिः॥
खाद्यंते यत्र सद्यो भवमरणजराश्वापदैर्भीमरूपैः।
तत्रावस्थां क्व कुर्मो भवगहनवने दुःखदावाग्नितप्ते॥32॥

अन्वयार्थ–(चित्रव्याघातवृक्षे) नाना प्रकार की आपत्तिरूपी वृक्षों से भरे हुए (दुःखदावाग्नितप्ते) दुःखरूपी दावानल से तप्तायमान (भवगहनवने) इस संसार रूपी भयानक जंगल में (आरमन्तः) घूमने वाले (विषयसुखतृष्णा स्वादनासक्तचित्ताः) विषयों के सुखरूपी तृष्णा के स्वाद में चित्त को लगाने वाले (जनहरिणगणाः) प्राणीरूपी हिरणों के समूह (यत्र) जहाँ (सर्वतः) सभी तरफ (निस्त्रिंशैः) निर्दयी (संचरद्भिः) घूमने वाले (भीमरूपैः भवमरणजराश्वापदैः) भयानक जन्म जरा मरणरूपी हिंसक जीवों के द्वारा (सद्य) निरंतर (स्वाद्यंते) भक्षण किए जाते हैं (तत्र) वहाँ (क्व अवस्थां कुर्मः) हम किस जगह रहें?

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि बुद्धिमानों को संसार में लिप्त न होकर आत्मकार्य कर लेना चाहिए–

भुजंगप्रयात छंद

न वैद्या न पुत्रा न विप्रा न शक्राः।
न कांता न माता न भृत्या न भूपाः॥

यमालिंगितुं रक्षितुं संति शक्ताः।
विचिंत्येति कार्यं निजं कार्यमार्यैः॥33॥

अन्वयार्थ–(यमालिंगितुं) यमराज जो काल है उससे आलिंगन किए हुए प्राणी को (न वैद्याः) न वैद्य (न पुत्राः) न पुत्र (न विप्राः) न ब्राह्मण (न शक्राः) न इन्द्र (न कान्ता) न स्त्री (न माता) न माता (न भृत्याः) न नौकर (न भूपाः) न राजागण (रक्षितुं) बचाने के लिए (शक्ताः संति) समर्थ हैं (इति) ऐसा (विचित्यं) विचार कर (आर्यैः) सज्जन पुरुषों को (निजं कार्यं) अपना आत्मकल्याण (कार्यं) करना योग्य है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि शरीर को क्षणभंगुर जानकर मोह का त्याग करना चाहिए–

विचित्रैरूपायैः सदा पाल्यमानः।
स्वकीयो न देहः समं यत्र याति॥
कथं बाह्यभूतानि वित्तानि तत्र।
प्रबुद्धयेति कृत्यो न कुत्रापि मोहः॥34॥

अन्वयार्थ–(यत्र) जिस संसार में (विचित्रैः) नाना प्रकार के (उपायैः) उपायों से (सदा) नित्य (पाल्यमानः) पालन किया हुआ (स्वकीयः) अपना ही (देहः) शरीर (समं) साथ (न याति) नहीं जाता है (तत्र) वहाँ (कथं) किस तरह (बाह्यभूतानि) बाहर ही बाहर रहने वाली (वित्तानि) धन आदि सम्पत्तियां साथ जा सकती हैं (इति) ऐसा (प्रबुध्य) समझकर (कुत्रापि) किसी भी पदार्थ में व कहीं भी (मोहः) मोहभाव (न कृत्यः) नहीं करना चाहिए।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि ज्ञानी को दुष्ट व अनष्टि पदार्थों में समताभाव रखना चाहिए–

मंदाक्रांता वृत्त

शिष्टे दुष्टे सदसि विपिने कांचने लोष्ठवर्गे।
सौख्ये दुःखे शुनि नरवरे संगमे यो वियोगे॥

शश्वद्धीरो भवति सदृशो द्वेषरागव्यपोढः।
प्रौढ़ा स्त्रीव प्रथितमहसस्तस्य सिद्धिः करस्थाः॥35॥

अन्वयार्थ–(यः) जो कोई (शिष्टे दुष्टे) सज्जन में या दुर्जन में (सदसि विपिने) सभा में या वन में (काँचने लोष्ठवर्गे) सुवर्ण में या कंकड़-पत्थर में (सौख्ये दुःखे) सुख में व दुःख में (शुनि नरवरे) कुत्ते में और श्रेष्ठ मनुष्य में (संगमे-वियोगे) इष्ट के संयोग में या वियोग में (सदृशः) समानभाव रखता हुआ (शश्वत्) सदा ही (धीरः) धीर तथा (द्वेषरागव्यपोढ़ः) राग-द्वेष रहित वीतरागी (भवति) रहता है। (तस्य) उस (प्रथितमहसः) प्रसिद्ध तेजस्वी के पास (सिद्धिः) मुक्ति (प्रौढ़ा स्त्री इव) युवती स्त्री के समान (करस्था) हाथ में ही आ जाती है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि वीतरागी साधु ही मोक्ष के अधिकारी होते है-

शार्दूलविक्रीड़ित छंद

अभ्यस्ताक्षकषायवैरिविजया विध्वस्तलोकक्रियाः।
बाह्याभ्यंतरसंगमांशविमुखाः कृत्वात्मवश्यं मनः॥
ये श्रेष्ठं भवभोगदेहविषयं वैराग्यमध्यासते।
ते गछन्ति शिवालयं विकलिला बुद्ध्वा समाधिं बुधाः॥36॥

अन्वयार्थ–(ये) जो (अभ्यस्ताक्षकषाय वैरिविजयाः) इन्द्रिय विषय और कषाय बैरियों के जीतने का अभ्यास करने वाले हैं, (विध्वस्तलोक क्रियाः) जिन्होंने लौकिक क्रियाकांड आरंभादिक सब त्याग दिया है। (बाह्याभ्यन्तरसंगमांशविमुखाः) जो बाहरी और भीतरी परिग्रह के अंश मात्र से भी वैरागी हैं और जो (मनः आत्मवश्यं कृत्वा) मन को अपने अधीन करके (भवभोगदेहविषयं) संसार, भोग व शरीर सम्बन्धी (श्रेष्ठं) उत्तम (वैराग्यं) वैराग्य को (अध्यासते) प्राप्त हुए हैं, (ते बुधाः) वे ज्ञानी साधु (समाधि) समाधि या आत्मीक तन्मयता को (बुद्ध्वा) अनुभव करके (विकलिलाः) सर्व कर्म रहित होकर (शिवालयं) मोक्षधाम को (गच्छन्ति) जाते हैं

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि शरीर और आत्मा का भेद ज्ञान ही लाभकारी है–

संघस्तस्य न साधनं न गुरवो नो लोकपूजा परा।
नो योग्यैस्तृणकाष्ठशैलधरणीपृष्ठैः कृतः संस्तरः॥
कर्तात्मैव विबुध्यतायममलस्तस्यात्मतत्त्वस्थिरो।
जानानो जलदुग्धयोरिव भिदां देहात्मनोः सर्वदा॥37॥

अन्वयार्थ–(तस्य) उस आत्मध्यान या आत्मशुद्धि का (साधनं) उपाय (न संघः) न तो मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका का संघ है (न गुरवः) न गुरु आचार्य हैं (नो परा लोकपूजा) न लोक में बड़ी पूजा पाना है (नो योग्यैः तृणकाष्ठ शैलधरणीपृष्ठैः कृतः संस्तरः) न योग्य तृण काठ पाषाण व भूमितल का बनाया हुआ संस्तर है किन्तु (तस्य) उस आत्मध्यान का (कर्ता) करने वाला (अयम्) यह (अमलः) निर्मल व (आत्मतत्त्वस्थिरः) आत्मतत्त्व में स्थिर (आत्मा एव) आत्मा ही है। जो (जलदुग्धयोः इव) जल और दूध के समान (देहात्मनो भिदां) शरीर और आत्मा के भेद को (सर्वदा) सदा (जानानः) जानने वाला है (विबुध्यत) ऐसा समझो।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि आत्मज्ञानी ही मोक्ष जा सकता है–

विगलितविषयः स्वं प्रस्थितं बुध्यते यः।
पथिकमिव शरीरे नित्यमात्मानमात्मा॥
विषमभवपयोधिं लीलया लंघयित्वा।
पशुपदमिव सद्यो यात्यसौ मोक्षलक्ष्मीम्॥38॥

अन्वयार्थ–(यः) जो (विगलितावषिय:) इंद्रियों के विषयों की इच्छाओं का दमन करने वाला (आत्मा) आत्मा (शरीरे) शरीर में (पथिकं इव) यात्री के समान (प्रस्थितं) प्रस्थान करते हुए (स्वं आत्मानं) अपनी आत्मा को (नित्यम्) अविनाशी (बुध्यते) समझता है (असौ) वही (विषमभवपयोधिं) इस भयानक संसाररूपी समुद्र को (पशुपदं इव) गाय के खुर के समान (लीलया) लीला मात्र में (लंघयित्वा) पार करके

(सद्यः) शीघ्र ही (मोक्षलक्ष्मीम्) मोक्ष रूपी लक्ष्मी को (याति) प्राप्त कर लेता है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जो सांसारिक सुख से विमुख होता है वही आत्मसुख को पाता है–

बाह्यं सौख्यं विषयजनितं मुंचते यो दुरन्तं।
स्थेयं स्वस्थं निरुपममसौ सौख्यमाप्नोति पूतम्।
योऽन्यैर्जन्यंश्रुतिविरतये कर्णयुग्मं विधत्ते।
तस्यच्छन्नो भवति नियतः कर्णमध्येऽपि घोषः॥39॥

अन्वयार्थ–(यः) जो कोई (दुरन्तं) दुःखदाई (बाह्यं) बाहरी (विषयजनितं) इन्द्रिय जनित (सौख्यं) सुख को (मुंचते) त्याग देता है (असौ) वही (स्वस्थं) अपने आत्मा में स्थित (स्थेयं) अविनाशी व (निरूपमम्) उपमारहित व (पूतम्) पवित्र (सौख्यम्) सुख को (आप्नोति) पा लेता है (यः) जो कोई (अन्यैः जन्यं श्रुतिः विरतये) दूसरों से कहे हुए शब्दों को सुनने से विरक्त होने के लिए (कर्णयुग्मं) अपने दोनों कान (विधत्ते) ढक लेता है (तस्य) उसके (कर्णमध्येऽपि) कानों के मध्य ही (छन्नः) गुप्त (घोषः) शब्दों का उच्चारण (नियतः) सदा (भवति) होता रहता है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि पर संपत्ति को अपना मानना अज्ञान है–

शार्दूलविक्रीड़ित छंद

संयोगेन विचित्रदुःखकरणे दक्षेण संपादिता-
मात्मीयां सकलत्र पुत्रसुहृदं यो मन्यते संपदम्॥
नाना पायसमृद्धिवर्द्धन परां मन्ये ऋणोपार्जितां।
लक्ष्मीमेष निराकृतामितगतिर्ज्ञात्वा निजां तुष्यति॥40॥

अन्वयार्थ–(यः) जो कोई (विचित्रदुःखकरणे दक्षेण) नाना प्रकार के दुःख उत्पन्न करने में प्रवीण ऐसे (संयोगेन) शरीर व कर्म के संयोग से (संपदादिताम्) प्राप्त हुई (सकलत्रपुत्रसहृदं) स्त्री, पुत्र, मित्र आदि सहित

(संपदम्) सम्पत्ति को (आत्मीयां) अपनी ही (मन्यते) मानने लगता है (मन्ये) मैं समझता हूँ कि (एषः) यह (निराकृतामितगतिः) विशेष ज्ञान रहित या मिथ्या ज्ञानी (नानापाय समृद्धिवर्द्धनपरां) प्राणी तरह-तरह की आपत्तियों को बढ़ाने वाली (ऋणोपार्जितां) कर्ज से प्राप्त होने वाली (लक्ष्मीम्) लक्ष्मी को (निजां) अपनी लक्ष्मी (ज्ञात्वा) जानकर (तुष्यति) सुखी हो रहा है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि ज्ञानी जीव किसी पदार्थ से रागद्वेष नहीं करते हैं–

यत्पश्यामि कलेवरं बहुविधव्यापारजल्पोद्यतम्।
तन्मे किंचिदचेतनं नकुरुते मित्रस्य वा विद्विषः॥
आत्मा यः सुखदुःखकर्मजनको नासौ मया दृश्यते।
कस्याहं बत सर्वसंगविकलस्तुष्यामि रुष्यामि च॥41॥

अन्वयार्थ–(मित्रस्य) मित्र के (वा विद्विषः) या शत्रु के (यत्) जिसके (कलेवरं) शरीर को (बहुविधव्यापारजल्पोद्यतम्) नाना प्रकार आरंभ करने में व बात करने में लगा हुआ (पश्यामि) देखता हूँ (तत्) वह शरीर (अचेतनं) चेतनता रहित जड़ है (मे) मेरा (किंचित्) कुछ (न कुरुते) नहीं कर सकता है (यः आत्मा) उनका जो आत्मा (सुखदुःखजनकः) सुख तथा दुःख का स्वरूप कर्मों को उत्पन्न करने वाला है (असौ) वह (मया) मेरे से (न दृश्यते) देखा नहीं जाता है तथा (अहं) मैं (सर्वसंगविकलः) सर्व कर्मादि पर वस्तु के संग से रहित शुद्ध हूँ तब (कस्य) किस पर (तुष्यामि) प्रसन्न होऊँ (रुष्यामि च) तथ रोष करूँ (बत) यह विचारने की बात है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि मेरा कोई नाश कर नहीं सकता मैं किससे राग व द्वेष करूँ–

क्रोधाबद्धाधिया शरीरकमिदं यत्नाश्यते शत्रुणा।
सार्धं तेन विचेतनेन मम नो काप्यस्ति संबंधता॥

संबंधो मम येन शश्वदचलो नात्मा स विध्वस्यते।
न क्वापीति विधीयते मतिमता विद्वेषरागोदयः।।42।।

अन्वयार्थ–(क्रोधाबद्धाधिया) क्रोध से युक्त बुद्धि वाले (शत्रुणा) शत्रु से (यत्) जो (इदं) यह (शरीरकम्) शरीर (नाश्यते) नाश किया जाता है (तेनविचेतनेन सार्धं) उस अचेतन शरीर के साथ (मम) मेरा (कापि) कुछ भी (संबंधता) सम्बन्ध (नोअस्ति) नहीं है (येन) जिसके साथ (मम शश्वत् अचलः संबंधः) मेरा हमेशा निश्चल सम्बन्ध है (सः) वह (आत्माः) आत्मा (न विध्वस्यते) नहीं नाश किया जा सकता है (इति) ऐसा समझकर (मतिमता) बुद्धिमान पुरुष के द्वारा (क्वापि) किसी में भी (विद्वेषरागोदयः) रागद्वेष का प्रकाश (न विधीयते) नहीं किया जाता है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि शरीर का मोह ही संकटों का मूल है–

एकत्रापि कलेवरे स्थितिधिया कर्माणि संकुर्वता।
गुर्वी दुःखपरंपरानुपरता यत्रात्मना लभ्यते।।
तत्र स्थापयता विनष्टममतां विस्तारिणीं संपदम्।
का शक्रेणनृपेश्वरेण हरिणा न प्राप्यते कथ्यताम्।।43।।

अन्वयार्थ–(यत्र) जिस संसार से (एकत्रापि कलेवरे) इसी एक शरीर में ही (स्थितिधिया) स्थिरतापने की बुद्धि करके (कर्माणि संकुर्वता) नाना प्रकार पाप कर्मों को करते हुए (आत्मना) आत्मा ने (गुर्वी) बड़ी भारी (दुःखपरम्परानुपरता) दुःखों की संतान को बढ़ाने वाली अवस्था (लभ्यते) प्राप्त कर ली है (तत्र) उसी संसार में (विनष्टममतां) ममता रहितपने को या वीतराग भाव को (स्थापयता) स्थापित करने वाले आत्मा से (का) कौन सी (विस्तारिणी) बड़ी भारी (सम्पदम्) सम्पदा (न प्राप्यते) न प्राप्त कर ली जा सकती है कि जिसको (शक्रेण नृपेश्वरेण हरिणा) इन्द्र चक्रवर्ती या नारायण नहीं प्राप्त कर सकते हैं। अर्थात् अवश्य मुक्ति लक्ष्मी प्राप्ति की जा सकती है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जिन बातों से शरीर का लाभ होता है उनसे आत्मा का बुरा होता है इससे उनसे बचना ही हितकर है–

ये भावः परिवर्धिता विदधते कायोपकारं पुन-
स्ते संसारपयोधिमज्जनपरा जीवापकारं सदा॥
जीवानुग्रहकारिणो विदधते कायापकारं पुन-
र्निश्चित्येति विमुच्यतेऽनघधिया कायोपकारि त्रिधा॥44॥

अन्वयार्थ–(ये) जो (परिवर्धिताः भावाः) धारण किए हुए व बढ़ाये हुए रागादि भाव व स्त्री, पुत्र, मित्र राज्यधन सम्पदा आदि पदार्थ (कायोपकारं) इस शरीर का भला (विदधते) करते हैं (पुनः) परन्तु (ते) वे भाव या पदार्थ (संसार पयोधिमज्जन पराः) संसार समुद्र में डुबाने वाले हैं इसलिए (सदाजीवापकारं) हमेशा जीव का बुरा करते हैं (पुनः) तथा (जीवानुग्रहकारिणः) जो वीतराग भाव या तप, व्रत, संयम आदि जीव के उपकार करने वाले हैं वे (कायापकारं) शरीर का बुरा (विदधते) करते अर्थात् शरीर को संयमी व संकुचित रहने वाला बताते हैं (इति) ऐसा (निश्चित्य) निश्चय करके (अनघधिया) निर्मल बुद्धिमान मानव को (त्रिधा) मन, वचन, काय तीनों प्रकार से (कायोपकारि) शरीर को लाभ देने वाले और आत्मा का बुरा करने वाले पदार्थों को या भावों को (विमुच्यते) छोड़ देना उचित है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि आत्मा की आराधना से ही आत्मा के पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होती है–

शालिनी छंद

आत्मा ज्ञानी परममलं ज्ञानमासेव्यमानः।
कायोऽज्ञानी वितरति पुनर्घोरमज्ञानमेव॥
सर्वत्रेदं जगति विदितं दीयते विद्यमानं।
कश्चित्त्यागी न हि स्वकुसुमं क्वापि कस्यापि दत्ते॥45॥

अन्वयार्थ–(आत्मा) आत्मा (ज्ञानी) ज्ञान स्वरूप है, (आसेव्यमानः) यदि इसकी सेवा की जावे तो यह (परमम्) उत्कृष्ट, (अमलं) निर्मल (ज्ञानं) ज्ञान को (वितरित) देता है (पुनः) जब कि (कायः) शरीर (अज्ञानी) ज्ञान रहित है (घोरं अज्ञानं एव) यदि इसकी सेवा की जावे

तो यह घोर अज्ञान को ही देता है (जगति) इस जगत में (इदं) यह बात (सर्वत्र) सर्व स्थान में (विदितं) प्रसिद्ध है कि (विद्यमानं दीयते) जिसके पास जो होता है वही दिया जाता है (कश्चित्) कोई भी (त्यागी) दानी (स्वकुसुमं) आकाश के फूल को (क्वापि) कहीं भी (कस्यापि) किसी को भी (न हि दत्ते) नहीं दे सकता है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि लोग सुख की तो इच्छा करते हैं परन्तु उपाय उल्टा करते हैं–

कांक्षन्तः सुखमात्मनोऽनवसितं हिंसा परैः कर्मभिः।
दुःखोद्रेकमपास्तसंगधिषणाः कुर्वन्ति धिक्कामिनः॥
बाधां किं न विवर्धयन्ति विविधैः कंडूयनैः कुष्टिनः।
सर्वांगावयवोपमर्दनपरैः खर्जूकषाकांक्षिणाः॥46॥

अन्वयार्थ–(अनवसितं) निरन्तर (आत्मनः सुखं) अपने को सुख की (कांक्षन्तः) इच्छा करने वाला (अपास्तसंगधिषणाः) विवेक बुद्धि से रहित (कामिनः) कामी पुरुष (धिक्) यह बड़े दुःख की बात है कि (हिंसापरैः कर्मभिः) हिंसामयी क्रियाओं के द्वारा (दुःखोद्रेकं) दुःखों के वेग को (कुर्वन्ति) बढ़ा लेते हैं। जैसे (खर्जुकषाकांक्षिणाः) खुजाने की इच्छा करने वाले (कुष्टिनः) कोढ़ी लोग (विविधैः) नाना प्रकार (कंडूयनैः) खुजाने की वस्तुओं से (सर्वांगावयवोपमर्दनपरैः) सारे अंग के भागों को मलने से (किं) किस (बाधां) कष्ट को (न विवर्धयंति) नहीं बढ़ा लेते हैं? अर्थात् अवश्य बढ़ा लेते हैं।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जो अपने आत्मा को अपने आत्मा में स्थिर करता है वही अपने आपका मित्र है व जो ऐसा नहीं करता है वह अपने आत्मा का शत्रु है–

व्यापारं परिमुच्य सर्वमपरं रत्नत्रयं निर्मलम्।
कुर्वाणो भृशमात्मनः सुहृदसावात्मप्रवृत्तोऽन्यथा।
वैरी दुःसहजन्मगुप्ति भवने क्षिप्त्वा सदा पातय-
त्यालोच्येति स तत्रजन्मचकितैः कार्यः स्थिरः कोविदैः॥47॥

अन्वयार्थ–जो (सर्व अपरं व्यापारं) सर्व दूसरे व्यापार को (परिमुच्य) छोड़ करके (निर्मलं) पवित्र (रत्नत्रयं) रत्नत्रय धर्म को (भृशं कुर्वाणः) भले प्रकार पालने वाला व (आत्मप्रवृत्तः) अपनी आत्मा का मित्र है। (अन्यथा) जो ऐसा नहीं करता है वह (वैरी) अपनी आत्मा का बैरी है। वह अपने आपको (सदा) सदा (दुःसहजन्मगुप्तिभवने) न सहने योग्य संसार के भयानक जेलखाने में (क्षिप्त्वा) पटक कर (पातयति) अधोगति में पहुंचाता रहता है (इति) ऐसा (आलोच्य) विचार करके (जन्मचकितैः) संसार के जन्म से भय रखने वाले (कोविदैः) बुद्धिमानों को (तत्र) इस संसार में (सः स्थिर कार्यः) वही स्थिर कार्य करना चाहिए अर्थात् अपनी आत्मा में स्थिर होने का उपाय करना चाहिए।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि मूढ़ पुरुष धनादि में मग्न होकर मरणादि संकटों का विचार नहीं करता है–

मूढ़ः संपदधिष्ठितो न विपदं संपत्तिविध्वंसिनीं।
दुर्वारां जनमर्दनीमुपयंतीमात्मात्मनः पश्यति॥
वृक्षव्याघ्रतरक्षुपन्नगमृगाव्याधादिभिः संकुलं।
कक्षं वृक्षगतो हुताशनशिखां प्रप्लोषयन्तीमिव॥48॥

अन्वयार्थ–(मूढ़ः) मूर्ख (आत्मा) जीव (संपदधिष्ठितः) जो संपत्ति को रखने वाला है सो (आत्मनः) अपने ऊपर (जनमर्दनी) मानवों को नाश करने वाली (संपत्तिविध्वंसिनी) तथा लक्ष्मी आदि का वियोग करने वाली (दुर्वारां) कठिनता से निवारने योग्य (विपदं) विपदा को (उपयंतीं) आते हुए (न पश्यति) नहीं देखता है जैसे (वृक्षगतः) वृक्ष के ऊपर बैठा हुआ कोई मानव या पक्षी (वृक्षव्याघ्रतरक्षुपन्नगमृगाव्याधादिभिः) वृक्ष, बाघ, तरस, सर्प, मृग व शिकारी आदि से (संकुलं) भरे हुए (कक्षं) वन को (प्रप्लोषयन्तीं) जलाने वाली (हुताशनशिखां) अग्नि की शिखा के (इव) समान नहीं देखता है। अर्थात् जैसे वह मानव, आग जलती तो देखता है परन्तु उठ के भागता नहीं है ऐसा वह धनोन्मत्त पुरुष है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि परमात्मा पद की प्राप्ति आत्मध्यान से ही होती है–

आत्मात्मानमशेषबाह्यविकलं व्यालोकयन्नात्मना।
दुष्प्रापां परमात्मतामनुपमामापद्यते निश्चितम्॥
आत्मानं घनरूढ़कीचकचयः किं घर्षयन्नात्मना।
वह्नित्वं प्रतिपद्यते न तरसा दुर्वारतेजोमयम्॥49॥

अन्वयार्थ–(आत्मा) आत्मा (आत्मानम्) अपने आत्मा को (अशेषबाह्यविकलं) सर्व बाहारी पदार्थों से भिन्न (आत्मना) अपने आत्मा के द्वारा (व्यालोकयन्) अनुभव करता हुआ (निश्चितम्) निश्चय से (दुष्प्रापां) कठिनता से प्राप्त होने योग्य (अनुपमां) तथा उपमा रहित (परमात्मतां) परमात्मा पद को (आपद्यते) प्राप्त कर लेता है (किं) क्या (घनरूढ़कीचकचयः) गाढ़ डटा हुआ बांस के वृक्ष का समूह (आत्मना) अपने में (आत्मानं) आपको (घर्षयन्) घिसते-घिसते (तरसा) शीघ्र ही (दुर्वारतेजोमयं) न बुझाने योग्य तेजस्वी (वन्हित्वं) अग्निपने को (न प्रतिपद्यते) नहीं प्राप्त हो सकता है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जो शरीर के कार्य में मोही है वह आत्मकार्य नहीं कर सकता।

व्यासक्तो निजकायकार्यकरणे यः सर्वदा जायते।
मूढ़ात्मा स कदाचनापि कुरुते नात्मीयकार्योद्यमं॥
दुर्वारेण नरेश्वरेण महति स्वार्थे हठाद्योजिते।
भीतात्मा न कथंचनापि तनुते कार्यं स्वकीयं जनः॥50॥

अन्वयार्थ–(यः) जो कोई (सर्वदा) सदा (निजकायकार्यकरणे) अपने शरीर के कार्य के करने में (व्यासक्तः) लगा हुआ (जायते) रहता है (सः) वह (मूढ़ात्मा) मूढ़ बुद्धि (कदाचनापि) कभी भी (आत्मीयकार्योद्यमं) अपने आत्मा के कार्य का उद्यम (न कुरुते) नहीं करता है। (भीतात्मा जनः) भयभीत कायर जन (दुर्वारेण नरेश्वरेण) जिसकी आज्ञा का उल्लंघन करना कठिन है ऐसे राजा द्वारा (हठात्) बलात्कार से (महति स्वार्थे) किसी महान अपने कार्य में (योजिते) लगा दिए जाने पर

(स्वकीयंकार्यं) अपने स्वयं के कार्य को (कथंचनापि) कुछ भी (न) नहीं (तनुते) करता है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि धनादि पदार्थों में लीनता मोक्ष के साधनों में बाधक है–

लक्ष्मीकीर्तिकलाकलापललनासौभाग्यभाग्योदया-
स्त्यज्यन्ते स्फुटमात्मनेह सकला एते सतामर्जितैः।
जन्मांभोधिनिमज्जिकर्मजनकैः किं साध्यते कांक्षितं।
यत्कृत्वा परिमुच्यते न सुधियस्तत्रादरं कुर्वते॥51॥

अन्वयार्थ–(इह) इस संसार में (लक्ष्मीकीर्ति कलाकलापललना सौभाग्यभाग्योदयाः) धन, यश, कलाओं का समूह, स्त्री, सौभाग्य, भाग्य का उदय आदि (एते सकलाः) ये सब पदार्थ (आत्मना) आत्मा द्वारा (स्फुटंत्यज्यन्ते) प्रत्यक्ष छोड़ दिए जाते हैं (अर्जितैः) इन पदार्थों को उत्पन्न करने से (जन्मांभोधिनिमज्जिकर्मजनकैः) संसार समुद्र में डूबाने वाले कर्मों का बंध होता है इसलिए इन पदार्थों से (सतां) सज्जन पुरुषों का (किं) क्या (कांक्षितं) चाहा हुआ मोक्ष पुरुषार्थ (साध्यते) साधन किया जा सकता है? अर्थात् नहीं साधन होता है। (यत्कृत्वा परिमुच्यते) जिस वस्तु व काम को पैदा करके फिर छोड़ना पड़े (तत्र) उस काम में या पदार्थ में (सुधियः) बुद्धिमान लोग (आदरं) आदर (न कुर्वते) नहीं करते हैं।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि बुद्धिमान लोग कभी भी अनर्थ कार्य नहीं करते हैं–

हेयादेयविचारणास्ति न यतो न श्रेयसामागमो।
न वैराग्यं न कर्मपर्वतभिदा नाप्यात्मतत्त्वस्थितिः॥
तत्कार्यं न कदाचनापि सुधियः स्वार्थोद्यताः कुर्वते।
शीतं जातु नुनुत्सवो न शिखिनं विध्यापयंते बुधाः॥52॥

अन्वयार्थ–(यतः) जिस कार्य के करने से (हेयादेयविचारणा न अस्ति) ग्रहण करने योग्य व त्याग करने योग्य क्या है ऐसा विचार नहीं पैदा होवे

(न श्रेयसामागमः) न मोक्ष आदि जो कल्याणकारक है उसका लाभ होवे (न वैराग्यं) न संसार देह भोगों से वैराग्य पैदा होवे (न कर्मपर्वतभिदा) न कर्मरूपी पर्वतों का चूरा किया जा सके (नापि आत्मतत्त्वस्थितिः) और न आत्मिक तत्त्व में स्थिति हो अर्थात् आत्मध्यान हो (तत्कार्यं) उस कार्य को (स्वार्थोद्यताः) अपने आत्मा के प्रयोजन में उद्यमी (सुधियः) बुद्धिमान लोग (कदाचनापि) कभी भी नहीं (कुर्वते) करते हैं जैसे (शीतं नुनुत्सवः) शीत को दूर करने की इच्छा करने वाले (बुधाः) बुद्धिमान लोग (जातु) कभी भी (शिखिनं) अग्नि को (न विध्यापयंते) नहीं बुझाते हैं।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि ध्याता मानव को उचित है कि क्रोधादि भावों को दूर रखें–

कामक्रोधविषादमत्सरमदद्वेषप्रमादादिभिः।
शुद्धध्यानविवृद्धिकारिमनसः स्थैर्यं यतः क्षिप्यते॥
काठिन्यं पारितापदानचतुरैर्हेमनो हुताशैरिव।
त्याज्या ध्यानविधायिभिस्तत इमे कामादयो दूरतः॥53॥

अन्वयार्थ–(यतः) क्योंकि (कामक्रोधविषादमत्सरमदद्वेष प्रमादादिभिः) कामभाव, क्रोधभाव, शोक, ईर्ष्या, गर्व, द्वेष व प्रमाद आदि अशुद्ध भावों के द्वारा (शुद्धध्यानविवृद्धिकारिमनसः) शुद्ध ध्यान को बढ़ाने वाले मन की (स्थैर्यं) स्थिरता (परितापदानचतुरैः हुताशैः हेम्नः काठिन्यं इव) तीव्र गर्म करने वली अग्नि के द्वारा सुवर्ण की कठिनता के समान (क्षिप्यते) नष्ट हो जाती है (ततः) इसलिए (ध्यानविधायिभिः) ध्यान करने वालों के द्वारा (इमे कामादयः) ये काम क्रोधादि भाव (दूरतः) दूर से ही (त्याज्याः) छोड़ने योग्य है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि ध्यानीजन मुक्ति के लिए ही ध्यान करते है–

व्यावृत्त्येन्द्रियगोचरोरुगहने लोलं चरिष्णुं चिरं।
दुर्वारं हृदयोदरे स्थिरतरं कृत्वा मनोमर्कटम्॥

ध्यानं ध्यायति मुक्तये भवततेर्निर्मुक्तभोगस्पृहो।
नोपायेन बिना कृता हि विधयः सिद्धिं लभंते ध्रुवं॥54॥

अन्वयार्थ–(निर्मुक्तभोगस्पृहः) जिस महात्मा ने भोगों की इच्छा को त्याग दिया है वही (दुर्वारं) इस कठिनता से वश में आने योग्य (लोलं) लोलुपी या चंचल (मनोमर्कटम्) मन रूपी बन्दर को (इन्द्रियगोचरोरुगहने) जो पांचों इन्द्रियों के भोगरूपी महान वन में (चिरं) अनादिकाल से (चरिष्णुं) क्रीड़ा कर रहा है (व्यावृत्य) वहां से हटाकर (हृदयोदरे) हृदय के भीतर (स्थिरतरं कृत्वा) पूर्ण स्थिर करके (भवततेः निर्मुक्त) संसार के फैलाव से छूट जाने के लिए (ध्यानं ध्यायति) ध्यान का अभ्यास करता है। (हि) यह निश्चय है कि (उपायेन बिना) उपाय के बिना (विधयः कृताः) जो रीतियां की जावें तो वे (ध्रुवम्) निश्चय से (सिद्धिं) सफलता को (न लभंते) नहीं पाती हैं।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि योगी को एक आत्मतत्त्व का ही ध्यान करना चाहिए–

चंद्रार्कग्रहतारकाप्रभृतयो यस्य व्यापायेऽखिलाः।
जायंते भुवन प्रकाश कुशला ध्वांतप्रतानोपमाः॥
यद्विज्ञानमयप्रकाशविशदं यद्ध्यायते योगिभिः।
तत्त्वं परिचिंतनीयममलं देहस्थितं निश्चलं॥55॥

अन्वयार्थ–(यस्य) जिस तत्त्व के (व्यापाये) अभाव में (भुवन प्रकाश कुशलाः) लोक को प्रकाश करने में कुशल ऐसे (अखिलाः) सर्व (चंद्रार्कग्रहतारकाप्रभृतयः) चंद्रमा, सूर्य, ग्रह, तारे आदिक (ध्वांतप्रतानोपमाः) अंधेरे के समूह के समान (जायंते) हो जाते हैं (यद्विज्ञानमयप्रकाशविशदं) जो ज्ञानमयी प्रकाश को बहुत निर्मल रखने वाला है व (यत् योगिभिः ध्यायते) जो योगियों के द्वारा ध्याया जाता है (तत्) उस (अमलं) निर्मल (निश्चलं) व निश्चल (तत्त्वं) आत्मतत्व को (देहस्थितं) अपने ही शरीर में विराजमान (परिचिंतनीयम्) ध्याना चाहिए।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि अज्ञानी मन मरण आने वाला है इसको नहीं देखता हुआ अधर्म में फंसा रहता है–

भज्येतेत्य शरीर मंदिरमिदं मृत्युद्विपेन्द्रः क्षणा-
दित्युच्छ्वासमिषेण मानसबहिर्निर्गत्य निर्गत्य किं॥
पश्यंस्त्वं न निरीक्षसेऽतिचकितं तस्यागतिं चेतनां।
वै येनामरचेष्टितानि कुरुषे निर्धर्मकर्मोद्यमम्॥56॥

अन्वयार्थ–(मानस) हे मन! (मृत्युद्विपेन्द्रः) मरण रूपी हाथी (एत्य) आकर (क्षणात्) क्षणभर में (इदं शरीरमंदिरम्) इस शरीररूपी घर को (भज्येत्) तोड़ डालेगा (इति) ऐसा जानकर (त्वं) तू (उच्छ्वासमिषेण) श्वासोच्छ्वास के बहाने (बहिः) बाहर (निर्गत्य निर्गत्य) आ-आकर (अतिचकितं) अति भयभीतपने से (पश्यन्) देखता हुआ (वै) बड़े खेद की बात है (तस्य आगतिं) उस मरण के आने की (चेतनां) चेतना को (न निरीक्षसे) नहीं देखता है अर्थात् मरण आने वाला है ऐसी बुद्धि अपने भीतर नहीं जमाता है (येन) यही कारण है जिससे तू (अमरचेष्टानि) अपने को अजर अमर मान कर के व्यवहार करता हुआ (निर्धर्मकर्मोद्यमम्) धर्म रहित कर्मों का उद्यम (कुरुषे) करता रहता है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जो परिग्रहवान हैं वे सदा आरम्भ से विकल्प किया करते हैं और जैन धर्म में प्रीति नहीं करते–

शिखरिणी वृत्तं

करिष्यामीदं व कृतमिदमिदं कृत्यमधुना।
करोमीति व्यग्रं नयसि सकलं कालमफलम्॥
सदा रागद्वेषप्रचयनपरं स्वार्थविमुखं।
न जैने शुचितत्त्वे वचसि रमसेर्निर्वृतिकरे॥57॥

अन्वयार्थ–(इदं) यह (करिष्यामि) मैं करूँगा (वा) अथवा (इदं कृतं) यह मैंने किया था (अधुना इदं कृत्यं करोमि) या अब मैं काम करता हूँ (इति) इस तरह (व्यग्रं) घबराया हुआ (सदा) हमेशा (रागद्वेषप्रचयनपरं) रागद्वेष के करने में लगा हुआ (स्वार्थविमुखं) अपने आत्मा के हित में विमुख होता हुआ तू (सकलं कालं) अपने सम्पूर्ण जीवन के समय को (अफलं) निष्फल (नयसि) गमा रहा है परन्तु (शुचितत्त्वे) पवित्र तत्त्व

को बताने वाले व (निर्वृतिकरे) मोक्ष को प्राप्त कराने वाले (जैने वचसि) जिन वचन में (न रमसे) रमण नहीं करता है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि धर्म ही प्राणी का रक्षक है–

कुर्वाणोऽपि निरंतरामनुदिनं बाधां विरुद्धक्रियां।
धर्मारोपितमानसैर्न रुचिभिर्व्यापाद्यते कश्चन॥
धर्मापोढ़धियः परस्परमिमे निघ्नंति निष्कारणम्।
यत्तद्धर्ममपास्य नास्ति भुवने रक्षाकरं देहिना॥58॥

अन्वयार्थ–(कश्चन) कोई मानव (अनुदिनं) प्रतिदिन (निरंतरां) बहुत सी (बाधां) बाधा कारक (विरुद्धक्रियां) विरुद्ध क्रिया को (कुर्वाणः अपि) करता रहता है तो भी (धर्मारोपित मानसैः रुचिभिः) धर्म में मन को जमाये रखने वाले रुचिवान प्राणियों के द्वारा (न) नहीं (व्यापाद्यते) पीड़ित किया जाता है, (धर्मापोढ़धियः) धर्म में जिनकी बुद्धि नहीं है ऐसे मानव (परस्परम्) आपस में (निष्कारणम्) बिना कारण (निघ्नंति) घात करते रहते हैं (यत् तत् धर्मम्) ऐसा धर्म है उसको (अपास्य) छोड़कर (भुवने) इस जगत में (देहिनां) शरीर धारियों का (रक्षाकरं) रक्षा करने वाला और (नास्ति) नहीं है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जिस परिग्रह को एक दिन छोड़ना पड़ेगा उसको तू अपने आप ही क्यों नहीं छोड़ता है–

नानारंभपरायणैर्नरवरैरावर्ज्य यस्त्यज्यते।
दुःप्राप्योऽपि परिग्रहस्तृणमिव प्राणप्रयाणे पुनः।
आदावेव विमुंच दुःखजनकं तं त्वं त्रिधा दूरत-
श्चेतो मस्करिमोदकव्यतिकरं हास्यास्पदं मा कृथाः॥59॥

अन्वयार्थ–(नानारम्भपरायणैः) तरह-तरह के आरम्भों में लीन (नरवरैः) बड़े-बड़े मनुष्यों के द्वारा (आवर्ज्य) एकत्र करके (दुःखप्राप्यः अपि) कठिनता से प्राप्त करने योग्य ऐसा भी (यः परिग्रहः) जो परिग्रह (प्राणप्रयाणे) प्राणों के वियोग होने पर (तृणं इव) तिनके के समान (त्यज्यते) छोड़ देना पड़ता है (पुनः) परन्तु (त्वं) तू (दुःखजनकं तं)

दु:खों को उत्पन्न करने वाले उस परिग्रह को (आदौ एव) पहले ही (दूरत:) दूर से (त्रिधा) मन, वचन, काय तीनों से (विमुंच) छोड़ दे (चेत: मस्करिमोदकव्यतिकरं) तू अपने चित्त को विष्टा में पड़े हुए लाडू को उठाकर फिर फेंककर (हस्यास्पदं मा कृथा:) हँसी का स्थान मत बन।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जो मानव भाई, पुत्र, मित्रादि में मोह करता है वह वृथा शोक करके कष्ट पाता है–

स्वाभिप्रायवशाद्विभिन्नगतयो ये भ्रातृपुत्रादय:।
तांस्त्वं मीलयितुं करोषि सततं चित्त प्रयासं वृथा॥
गच्छन्त: परिमाणवो दश दिश: कल्पान्तवातेरिता:।
शक्यंते न कदाचनापि पुरुषैरेकत्र कर्तुं ध्रुवम्॥60॥

अन्वयार्थ–(भ्रातृपुत्रादय:) जो भाई व पुत्र आदि कुटुम्बी (स्वाभिप्रायवशात्) अपने-अपने आशयरूप भावों के द्वारा कर्म बांधकर (विभिन्नगतय:) भिन्न-भिन्न गति को चले गए हैं (तान्) उनके (मीलयितुं) मिलने के लिए (चित्त) रे मन (त्वं) तू (सततं) निरन्तर (प्रयासं) प्रयत्न (वृथा) बेमतलब (करोषि) करता है (कल्पांतवातेरिता:) कल्पकाल की पवन की प्रेरणा से (परिमाणव:) जो परमाणु (दश दिश:) दसों दिशाओं में (गच्छन्त:) चले गए हैं उनको (एकत्र कर्तुं) इकट्ठा करना (ध्रुवं) निश्चय से (कदाचनापि) कभी भी (पुरुषै:) पुरुषों के द्वारा (न शक्यन्ते) नहीं शक्य हो सकता है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि भोगोपभोग पदार्थों की इच्छा करना वृथा है क्योंकि उनसे तृप्ति नहीं होती है–

भोजं भोजमपाकृता हृदय ये भोगस्त्वयानेकधा।
तांस्त्वं कांक्षसि किं पुन: पुनरहो तत्राग्निनिक्षेपिण:॥
तृप्तिस्तेषु कदाचिदस्ति तव नो तृष्णोदयं विभ्रत:।
देशे चित्रमरी चिसंचयचिते वल्ली कुतो जायते॥61॥

अन्वयार्थ–(हृदय) हे मन (त्वया) तेरे द्वारा (ये अनेकधा भोगा:) जो

अनेक प्रकार के भोग, (भोजं भोजं) भोग-भोग करके (अपाकृता) छोड़े जा चुके हैं (अहो) अहो बड़े खेद की बात है कि (त्वं) तू (पुनः पुनः) बार-बार (तान्) उन ही को (कांक्षसि) इच्छा करता है वे भोग (तत्र अग्निनिक्षेपिणः) तेरी इच्छा में अग्नि डालने के समान हैं अर्थात् तृष्णा को बढ़ाने वाले हैं, (तृष्णोदयं विभ्रतः तव) तृष्णा की बुद्धि को रखने वाला ऐसा तू जो है सो तेरी (तृप्तिः) तृप्ति (तेषु) उन भोगों के भीतर (कदाचित्) कभी भी (न अस्ति) नहीं हो सकती है। जैसे (चित्रमरीचिसंचयियते देशे) कड़ी धूप से तप्तायमान स्थान में या आग में तपाए हुए स्थान में (कुतः) किस तरह (वल्ली) वेल (जायते) उग सकती है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि इस जीव को पर पदार्थ में अहंकार छोड़कर आत्मध्यान करना योग्य है–

शूरोऽहं शुभधीरहं पटुरहं सर्वाधिकश्रीरहं।
मान्योहं गुणवानहं विभुरहं पुंसामहं चाग्रणीः॥
इत्यात्मन्नपहाय दुष्कृतकरीं त्वं सर्वथा कल्पनाम्।
शश्वद्ध्याय तदात्मतत्त्वममलं नैश्रेयसी श्रीर्यतः॥62॥

अन्वयार्थ–(आत्मन) हे आत्मा (अहं शूरः) मैं वीर हूँ (अहं शुभधीः) मैं शुभ बुद्धिधारी हूँ (पटुरहं) मैं चतुर हूँ (सर्वाधिक श्रीरहं) सबसे अधिक सम्पत्तिशाली हूँ, (अहं मान्यः) मैं माननीय हूँ (अहं गुणवान्) हूँ (अहंविभुः) मैं समर्थवान हूँ (अहं पुसाम् अग्रणीः) तथा मैं पुरुषों में मुखिया हूँ (इति) इस तरह की (दुष्कृतकरीं) पाप को बांधने वाली (कल्पनाम्) कल्पना को व मान्यता को (सर्वथा) सब तरह से (अपहाय) दूर करके (त्वं) तू (शश्वत्) निरन्तर (तत् अमलं आत्मतत्त्वं) उस निर्मल आत्मतत्त्व को (ध्याय) ध्यान कर (यतः) जिससे (नैः श्रेयसीश्रीः) मुक्तिरूपी लक्ष्मी प्राप्त होती है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि क्रोधादि कषायों के त्याग बिना मोक्ष होना कठिन है–

मालिनी वृत्तम्

धृतविविधकषायं ग्रंथलिंगव्यवस्थम्।
यदि यतिनिकुरुम्बं जायते कर्मरिक्तम्॥
भवति ननु तदानीं सिंहपोताविदार्य-
शशकनलकरंध्रे हस्तियूथं प्रविष्टम्॥63॥

अन्वयार्थ–(यदि) यदि (धृतविविधकषायं ग्रंथलिंगव्यवस्थम्) नाना प्रकार क्रोध मानादि कषायों को, परिग्रह को तथा भेष की व्यवस्था को पकड़कर रहने वाले (यतिनिकुरुम्बं) साधुओं का समूह (कर्मरिक्तम्) कर्मों से खाली (जायते) हो जावे अर्थात् मुक्त हो जावे तो (ननु) मैं ऐसा मानता हूँ कि (तदानीं) तब तो (सिंहपोताविदार्य शशकनलकरंध्रे) सिंह के बच्चे के द्वारा विदारण करने को अशक्य खरगोश की हड्डी के महीन छेद में (हस्ति यूथं) हाथियों का समुदाय (प्रविष्टम् भवति) प्रवेश कर जावे।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जो स्त्रियों के सुख को सुख जानते हैं उनकी समझ ठीक नहीं है–

कष्टं वंचनकारिणीष्वपि सदा नारीषु तृष्णापराः।
शर्माशां न कदाचनापि कुधियो मर्त्या विपर्याशया॥
मुंचंते मृगतृष्णिकास्विव मृगाः पानीयकांक्षां यतो।
धिक्तं मोहमनर्थदानकुशलं पुंसामवार्योदयम्॥64॥

अन्वयार्थ–(कष्टं) यह बड़े दु:ख की बात है कि (विपर्याशया:) विरुद्ध अभिप्राय रखने वाले मिथ्यादृष्टि (कुधिया:) और मिथ्यात्व बुद्धिधारी (मर्त्या:) मनुष्य (वंचनकारिणीषु अपि नारीषु) मानव के मन को फँसाने वाली स्त्रियों में भी (सदा तृष्णापरा:) सदा तृष्णा को रखने हुए (कदाचनापि) कभी भी (शर्माशां) सुख की आशा को (न मुंचंते) नहीं छोड़ते हैं (मृगा: मृगकतृष्णिकासु पानीयकांक्षा इव) जैसे हिरण मृग जल में अर्थात् पानी जैसे चमकने वाले रेत में पानी की इच्छा को कभी नहीं छोड़ते है (यत:) इसलिए यह कहना पड़ता है कि (पुंसाम्) जीवों को

(अनर्थदानकुशलं) संकटों के देने में कुशल (अवार्योदयम्) व जिसके प्रभाव को दूर करना कठिन है (तं मोहं) ऐसे मोह को (धिक्) धिक्कार हो।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि भव्य जीवों को उचित है कि आत्मा बैरी जो विषय कषाय हैं उनको नाश करें–

पापानोकहसंकुले भववने दुःखादिभिर्दुर्गमे।
यैरज्ञानवशः कषायविषयैस्त्वं पीडितोऽनेकधा॥
रे तान् ज्ञानमुपेत्य पूतमधुना विध्वंसयाशेषतो।
विद्वांसो न परित्यजंति समये शत्रूनहत्वा स्फुटं॥65॥

अन्वयार्थ–(पापानोकहसंकुले) हिंसादि पाप रूपी वृक्षों से गाढ़भरे हुए तथा (दुःखादिभिः दुर्गमे) दुःख शोक आदि कष्टों से कठिनता से बचने योग्य ऐसे (भव वने) संसाररूपी वन में (यैः कषायविषयै) जिन इन्द्रियों के विषय और क्रोधादि कषायों के द्वारा (त्वं अज्ञानवशः) तू अज्ञान के फंदे में पड़ा हुआ (अनेकधा) अनेक तरह से (पीड़ितः) दुःखी किया गया है (रे) रे चतुर पुरुष तू (अधुना) अब तो (पूतं) पवित्र (ज्ञानं) ज्ञान को (उपेत्य) पाकर (तान्) इन विषय कषायों को (अशेषतः) सम्पूर्णपने (विध्वंसय) नाशकर (स्फुटं) यह बात साफ है कि (विद्वांसः) विद्वान पुरुष (समये) अवसर पाकर (शत्रून्) शत्रुओं को (अहत्वा) बिना मारे (न परित्यजंति) नहीं छोड़ते हैं।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जितना परिश्रम यह संसारी प्राणी धनादि के लिए करता है उतना यदि मोक्ष के लिए करे तो अनन्त सुख को पावे–

मालिनी वृत्तम्

असिमसिकृषिविद्याशिल्पवाणिज्ययोगैः।
तनुधनसुतहेतोः कर्म यादृक्करोषि॥
सकृदपि यदि तादृक् संयमार्थं विधत्से।
सुखममलमनंतं किं तदा नाश्नुषेऽलम्॥66॥

अन्वयार्थ–(असिमसिकृषिविद्याशिल्पवाणिज्ययोगैः) शास्त्रकर्म, लेखनकर्म, कृषिकर्म, विद्याकला, सुदर्शन कर्म व्यापार व शिल्प इन छह प्रकार आजीविका के साधनों के द्वारा (तनुधनसुतहेतोः) शरीर धन व पुत्र के लाभ के लिए (यादृक् कर्म) जिस तरह का परिश्रम (करोषि) तू करता है (यदि) यदि (संयमार्थं) संयम के लिए (सकृदपि) एक दफ़े भी (तादृक्) वैसा परिश्रम (विधत्से) करे (तदा) तो (किं) क्या (अमलं) निर्दोष (अनंतसुखं) अनंत सुख को (न अश्नुषे) नहीं भोग सके? (अलं) अवश्य तू भोग सकेगा–

उत्थानिका–आगे कहते हैं जो संयम का साधन करते हैं वे अवश्य मोक्ष प्राप्त करते हैं-

सुखजननपटूनां पावनानां गुणानाम्।
भवति सपदि कर्ता सर्वलोकोपरिस्थः॥
त्रिदशशिखरिमूर्धाधिष्ठितस्येह पुंसः।
स्वयमवनिरधस्ताज्जायते नाखिला किं॥67॥

अन्वयार्थ–जो संयम पालन करता है वह (सपदि) शीघ्र (सर्वलोकोपरिस्थः) सर्व लोक के ऊपर सिद्ध क्षेत्र में विराजमान होता हुआ (सुखजननपटूनां) आत्मीक आनंद को पैदा करने में कुशल ऐसे (पावनानां गुणानां) पवित्र गुणों का (कर्ता) करने वाला अर्थात् अपने अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि गुणों में परिणमन करने वाला (भवति) रहता है (इह) इस जगत में (त्रिदशशिखरिमूर्धाधिष्ठितस्य पुंसः) सुमेरू पर्वत के मस्तक पर बैठे हुए पुरुषों के लिए (किं) क्या (अखिला अवनिः) यह सकल पृथ्वी (स्वयं) अपने आप ही (अधस्तात्) नीची (न जायते) नहीं हो जाती है? अर्थात् अवश्य हो जाती है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि इस संसारचक्र में सच्चा सुख नहीं मिल सकता–

मालिनी वृत्तम्

दिनकरकरजाले शैत्यमुष्णवत्वमिंदोः।
सुरशिखरिणि जातु प्राप्यते जंगमत्वम्॥
न पुनरहि कदाचिद्घोरसंसारचक्रे।
स्फुटमसुखनिधाने भ्राम्यता शर्म पुंसा॥68॥

अन्वयार्थ–यदि (दिनकरकरजाले) सूर्य की किरण समूह में कदाचित् (शैत्यम्) ठंडकपना हो जावे तथा (इंदोः) चन्द्रमा में (उष्णत्वं) गर्मी हो जावे व (जातु) कदाचित् (सुरशिखरिणि) सुमेरू पर्वत में (जंगमत्वम्) जंगमपना या हलन चलनपना (प्राप्यते) प्राप्त हो जावे तो हो जावो (पुनः) परन्तु (कदाचित्) कभी भी (असुखनिधाने) दुःखों की खान (इह घोर संसारचक्रे) इस भयानक संसार के चक्र में (भ्राम्यता) भ्रमण करते हुए (पुंसा) पुरुष को (स्फुटम्) प्रगटपने (शर्म) सुख (न) नहीं प्राप्त हो सकता है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि आत्मा का स्वभाव शुद्ध है इसका संबंध संसार वासनाओं से नहीं है–

शार्दूलविक्रीड़ितं

कायैः कर्मविनिर्मितैर्बहुविधैः स्थूलाणुदीर्घादिभिः।
नात्मायाति कदाचनापि विकृतिं संबध्यमानः स्फुटं॥
रक्तारक्तसितासितादिवसनैरावेष्टयमानोऽपि किं।
रक्तारक्तसितासितागुणितामापद्यते विग्रहः॥69॥

अन्वयार्थ–(कर्मविनिर्मितैः) कर्मों के उदय से रची हुई (बहुविधैः) नाना प्रकार की (स्थूलाणुदीर्घादिभिः) मोटी, पतली, ऊँची, छोटी आदि (कायैः) देहों के द्वारा (स्फुटं संबध्यमानः) प्रगट में सम्बन्ध रखता हुआ (आत्मा) यह जीव (कदाचनापि) कभी भी (विकृतिं न याति) विकारी नहीं हो जाता है अर्थात् अपने स्वभाव को नहीं त्यागता है (किं) क्या (विग्रहः) यह शरीर (रक्तारक्तसितारसितादिवसनैः) लाल, पीले, सफेद, काले वस्त्रों

से (आवेष्ट्यमानोऽपि) ढका हुआ भी (रक्तारक्त सितासिता दिवसनैः) लाल, पीले, सफ़ेद, काले वस्त्रों से (आवेष्ट्यमानोऽपि) ढका हुआ भी (रक्तारक्तसितादिगुणिताम्) लाल, पीले, सफ़ेद, काले रंग पीने को (आपद्यते) प्राप्त हो जाता है।

उत्थानिका–आचार्य और भी आत्मा का स्वरूप कहते हैं–

गौरो रूपधरो दृढः परिवृढ़ः स्थूलः कृशः कर्कशः।
गीर्वाणो मनुजः पशुर्नरकभूः षंढ़ः पुमानंगना॥
मिथ्या त्वं विदधासि कल्पनमिदं मूढ़ो विबुध्यात्मनो।
नित्यं ज्ञानमयस्वभावममलं सर्वव्यापायच्युतम्॥70॥

अन्वयार्थ–(त्वं) तू (आत्मनः) आत्मा के (नित्यं) अविनाशी (अमलं) निर्मल (सर्वव्यापाच्युतम्) सर्व सांसारिक दुःख जालों से रहित (ज्ञानमयस्वभावं) ज्ञानमयी स्वभाव को (विबुध्य) जान करके भी (मूढ़ः) मूर्ख होकर (इदं) इस (मिथ्या) झूठी (कल्पनम्) कल्पना को (विदधासि) किया करता है कि मैं (गौरः) गोरा हूँ (रूपधरः) मैं सुन्दर हूँ (दृढ़ः) मैं मजबूत हूँ (परिवृढ़ः) मैं श्रीमान् हूँ (स्थूलः) मैं मोटा हूँ (कृशः) मैं दुर्बल हूँ (कर्कशः) मैं कठोर हूँ (गीर्वाणः) मैं देव हूँ (मनुजः) मैं मनुष्य हूँ (पशुः) मैं पशु हूँ (नरकभूः) मैं नारकी हूँ (षंढः) मैं नपुंसक हूँ (पुमान्) मैं पुरुष हूँ (अंगना) तथा मैं स्त्री हूँ।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि मुमुक्षु जीव को नित्य ही परमात्मा का स्वरूप चिन्तवन करना चाहिए–

सर्वारंभकषायसंगरहितं शुद्धोपयोगोद्यतम्।
तद्रूपं परमात्मनो विकलिलं बाह्यव्यपेक्षातिगं॥
तन्निः श्रेयसकारणाय हृदये कार्यं सदा नापरम्।
कृत्यं क्वापि चिकीर्षवो न सुधियः कुर्वन्ति तद्ध्वंसकं॥71॥

अन्वयार्थ–(सर्वारम्भकषायसंगरहितम्) जो सर्व आरम्भ, क्रोधादि कषाय तथा परिग्रह से रहित है (शुद्धोपयोगोद्यतम्) जो शुद्ध ज्ञानदर्शनमयी उपयोग से पूर्ण है (विकलिलं) जो सर्वकर्म मैल से रहित है

(बाह्यव्यपेक्षातिगं) जिसको किसी भी बाहरी पदार्थ की अपेक्षा या गरज नहीं है (तत्) वही (परमात्मनः) इस उत्कृष्ट आत्मा का (रूपं) स्वभाव है। (तत्) इसी स्वरूप को (निःश्रेयस-कारणाय) मोक्ष प्राप्ति के लिए (हृदये) मन में (सदा) हमेशा (कार्यं) ध्याना चाहिए (न अपरां) इसके सिवाय अन्य किसी स्वभाव को न ध्याना चाहिए (कृत्यं) करने योग्य काम को (चिकीर्षवः) पूरा करने की इच्छा करने वाले (सुधियः) बुद्धिमान लोग (तद्ध्वंसक) उद्देश्य के नाश करने वाले कार्य को (क्व अपि) कहीं भी और कभी भी (न कुर्वंति) नहीं करते हैं।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि शरीर से प्रीति करना है सो आत्मा की उन्नति से बाहर रहना है–

यो जागर्ति शरीरकार्यकरणे वृत्तिं विधत्ते यतो।
हेयादेयविचारशून्य हृदयो नात्मक्रियायामसौ॥
स्वार्थं लब्धुमना विमुन्चतु ततः शश्वच्छरीरादरम्।
कार्यस्य प्रतिबंधके न यतते निष्पत्तिकामः सुधीः॥72॥

अन्वयार्थ–(यतः) क्योंकि (यः) जो कोई (शरीरकार्यकरणे) शरीर के काम के करने में (जागर्ति) जगा रहा है (असौ) वह (हेयादेयविचार-शून्यहृदयः) त्यागने योग्य व करने योग्य के विचार से शून्य मन वाला होता हुआ (आत्मक्रियायाम्) आत्मा के कार्य में (वृत्तिं न विधत्ते) अपना बर्तन नहीं रखता है (ततः) इसलिए (स्वार्थं लब्धुमना) अपने आत्मा के प्रयोजन को जो सिद्ध करना चाहता है उसको (शश्वत्) सदा ही (शरीरादरम्) शरीर का मोह (विमुंचतु) छोड़ देना चाहिए (निष्पत्तिकामः) अपनी इच्छा को पूर्ण करने वाला (सुधीः) बुद्धिमान पुरुष (कार्यस्य) अपने काम के (प्रतिबंधके) रोकने वाले कार्य में (न यतते) उद्यम नहीं करता है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि बुद्धिमान को व्यर्थ कार्य नहीं करना चाहिए–

भीतं मुंचति नांतको गतघृणो भैषीर्वृथा मा ततः।
सौख्यं जातु न लभ्यतेऽभिलषितं त्वं माभिलाषीरिदं॥
प्रत्यागच्छति शोचितं न विगतं शोकं वृथा मा कृथाः।
प्रेक्षापूर्वविधायिनो विदधते कृत्यं निरर्थं कथम्॥73॥

अन्वयार्थ–(गतघृणः) दया रहित (अंतकः) यमराज (भीतं) जो मरण से डरता है उसको (न मुंचति) छोड़ता नहीं है (ततः) इसलिए (वृथा) बेमतलब (मा भैषीः) डर न कर (अभिलाषितं) अपना चाहा हुआ (सौख्यं) सुख (जातु) कभी (न लभ्यते) नहीं प्राप्त होता है इसलिए (त्वं) तू (इदं) इस सुख की (मा अभिलाषीः) इच्छा न कर (विगतं) जो मर गया नष्ट हो गया (शोचितं) उसका शोक करने पर (न प्रत्यागच्छति) लौटकर नहीं आता है इसलिए (वृथा) बेमतलब (शोकं मा कृथाः) शोक न कर (प्रेक्षापूर्वविधायिनः) समझकर काम करने वाले विद्वान (निरर्थम्) बेमतलब (कृत्यं) काम (कथम्) किस लिए (विदधते) करेंगे?

उत्थानिका–आगे आचार्य कहते हैं कि आत्मीक सुख के लिए प्रयत्न कर, संसारिक सुख के लिए वृथा क्यों इच्छा करता है?

स्वस्थेऽकर्मणि शाश्वते विकलिले विद्वज्जनप्रार्थिते।
संप्राप्ये रहसात्मना स्थिरधिया त्वं विद्यमाने सति॥
बाह्यं सौख्यमवाप्तुमंतविरसं किं खिद्यसे नश्वरम्।
रे सिद्धे शिवमन्दिरे सति चरौ मा मूढ़ भिक्षां भ्रमः॥74॥

अन्वयार्थ–(स्वस्थे) जो सुख अपने आत्मा में ही स्थित है (अकर्मणि) जो कर्मों के उदय से प्राप्त नहीं होता अथवा जो कर्मों के नाश से प्रगट होता है (शाश्वते) जो अविनाशी है (विकलिले) व जो मल निर्मल है (विद्वज्जनप्रार्थिते) जिस सुख की विद्वान लोग सदा इच्छा किया करते हैं तथा जो (स्थिरधिया आत्मना) स्थिरभाव करने वाले आत्मा के द्वारा (रहसा संप्राप्ये) सहज ही में प्राप्त होने योग्य है (विद्यमाने सति) ऐसा सुख अपने पास होते हुए (त्वं) तू (अंतविरसं) जो अंत में रस रहित है

(नश्वर) व नाशवंत है ऐसे (बाह्यं सौख्यम्) बाहरी इन्द्रियजनित सुख को (अवाप्तं) प्राप्त करने के लिए (किं) क्यों (खिद्यसे) खेद उठाता है (रे मूढ़) रे मूर्ख (शिवमंदिरे चरौ सिद्धे सति) महादेव जी के मंदिर में खाने को नैवेद्य मिलते हुए (भिक्षां माभ्रमः) भिक्षा के लिए मत भ्रमण कर।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जो थिर सुख पाना तो चाहे पर उपाय उल्टा करे उसको वह सुख कैसे मिल सकता है?

मालिनी वृत्तम्

अभिलषति पवित्रं स्थावरं शर्म लब्धुं।
धनपरिजनलक्ष्मीं यः स्थिरीकृत्य मूढ़ः॥
जिगमिषति पयोधेरेव पारं दुरापं।
प्रलयसमयवीचिं निश्चलीकृत्य शंके॥75॥

अन्वयार्थ–(यः मूढ़ः) जो मूर्ख (धनपरिजनलक्ष्मीं) धन, बंधुजन व सम्पत्ति को (स्थिरीकृत्य) स्थिर रख करके (पवित्रं) निर्मल (स्थावरं) अविनाशी (शर्म) सुख (लब्धुं) पाने की (अभिलषति) इच्छा करता है (शंके) मैं ऐसी आशंका करता हूँ कि (एषः) यह मूर्खजन (प्रलयसमयवीचिं) प्रलयकाल की उठने वाली तरंगों को (निश्चलीकृत्य) निश्चल करके (पयोधेः) समुद्र के (दुरापं पारं) न पार होने योग्य पार को (जिगमिषति) जाना चाहता है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि बुद्धिमान पुरुष इन्द्रिय विषयों से दूर रहते है–

शार्दूलविक्रीडित छंद

ये दुःखं वितरन्ति घोरमनिशं लोकद्वये पोषिताः।
दुर्वारा विषयारयोः विकरुणाः सर्वांगशर्माश्रयाः॥
प्रोच्यंते शिवकांक्षिभिः कथममी जन्मावलीवर्द्धिनो।
दुःखोद्रेकविवर्धनं न सुधियः कुर्वन्ति शर्मार्थिनः॥76॥

अन्वयार्थ–(ये) जब ये (दुर्वाराः) कठिनता से दूर होने योग्य (विकरुणाः) और निर्दयी (विषयारयः) इन्द्रिय विषयरूपी शत्रु (पोषिताः) पुष्ट किए जाने पर (लोकद्वये) इस लोक व परलोक दोनों में (अनिशं) रातदिन (घोरं दुखं) भयानक कष्टों को (वितरन्ति) विस्तारते हैं तब (शिवकांक्षिभिः) मोक्ष के आनन्द को चाहने वाले (कथं) कि तरह (जन्मावलीवर्द्धिनः) संसार की परिपाटी को बढ़ाने वाले अभी इन विषयरूपी शत्रुओं को (सर्वांगशर्माश्रयः) सर्व प्रकार शरीर को सुख देने वाले हैं ऐसा (प्रोच्यन्ते) कह सकते हैं। (शर्मार्थिनः) जो सुख के अर्थी हैं वे (सुधियः) बुद्धिमान प्राणी (दुःखोद्रेक विवर्धनं) दुःख के वेग को बढ़ाने वाले कार्य को (न कुर्वन्ति) नहीं करते हैं।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि निर्मल भावों का और मलीन भावों का क्या-क्या फल होता है–

कुर्वाणः परिणाममेति विमलं स्वर्गापवर्गाश्रियं।
प्राणी कश्मलमुग्रदुःखजनिकां श्वभ्रादिरीतिं यतः॥
गृह्णानाः परिणाममाद्यामपरं मुंचंति सन्तस्ततः।
कुर्वन्तीह कुतः कदाचिदहितं हित्वा हितं धीधनाः॥77॥

अन्वयार्थ–(यतः) क्योंकि (प्राणी) यह प्राणी (विमलं परिणामं) निर्मल भाव को (कुर्वाणः) करता हुआ (स्वर्गापवर्गश्रियं) स्वर्ग व मोक्ष की लक्ष्मी को (एति) प्राप्त कर लेता है तथा (कश्मलं) मलीन भाव को करता हुआ (उग्रदुःखजनिकां) भयानक दुःखों को पैदा करने वाली (श्वभ्रादिरीतिं) नरक आदि की अवस्था को पाता है (यतः) इसलिए (सन्तः) सन्तजन (आद्यं) पहले (परिणामं) भाव को (गृह्णानाः) ग्रहण करते हुए (अपरं) दूसरे अशुभ भावों को (मुंचति) त्याग देते हैं। (इह) इस लोक में (धीधनाः) बुद्धिमान प्राणी (हितं हित्वा) अपने हित को छोड़कर (कुतः) किस तरह (कदाचित्) कभी भी (अहितं) दुःखदाई काम को (कुर्वन्ति) करेंगे।

उत्थानिका–आगे इस परिणाम की महिमा को और भी बताते हैं–

नरकगतिमशुद्धैः सुंदरैः स्वर्गवासं।
शिवपदमनवद्यं याति शुद्धैरकर्मा॥
स्फुटमिह परिणामैश्चेतनः पोष्यमाणै।
रिति शिवपदकामैस्ते विधेया विशुद्धाः॥78॥

अन्वयार्थ–(अशुद्धैः) अशुद्ध (परिणामैः) भावों से (नरकगतिं) नरक गति को (सुंदरैः) शुभ भावों से (स्वर्गवासं) स्वर्ग निवास को तथा (चेतनः पोष्यमाणैः शुद्धैः) चेतन को पुष्ट करने वाले शुद्ध भावों से (अकर्मा) यह जीव कर्म रहित होकर (अनवद्यं) निर्दोष (शिवपदम्) मोक्षपद को (याति) प्राप्त करता है (इति) ऐसा समझकर (शिवपदकामैः) जो मोक्ष की इच्छा रखते हैं उनको (ते विशुद्धाः) उन विशुद्ध भावों को (विधेयाः) करना योग्य है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि चारों ही गति दुःखरूप है इसलिए सुख के लिए मोक्ष का प्रयत्न हितकर है-

शार्दूलविक्रीडित छंद

श्वभ्राणां अविसह्यमंतरहितं दुर्जल्पमन्योन्यजम्।
दाहच्छेदविभेदनादिजनितं दुःखं तिरश्चां परम्॥
नृणां रोगवियोगजन्ममरणं स्वर्गैकसां मानसम्।
विश्वं वीक्ष्य सदेति कष्टकलितं कार्या मतिर्मुक्तये॥79॥

अन्वयार्थ–(श्वभ्राणां) नरकगतिवासी प्राणियों को (अवसिह्यम्) न सहने योग्य (दुर्जल्पम्) वचनों से न कहने योग्य (अन्योन्यजम्) परस्पर किया हुआ (अंतरहितं) अनंत बार (परं दुःखं) उत्कृष्ट दुःख होता है (तिरश्चां) पशु गति में रहने वाले प्राणियों को (दाहच्छेदविभेदनादिजनितम्) अग्नि में डालने का छेदे जाने का, भेदे जाने का, भूख, प्यास आदि के द्वारा होने वाला कष्ट होता है। (नृणां) मानवों को (रोगवियोगजन्ममरणं) रोग, वियोग तथा जन्म मरण आदि का दुःख रहा करता है (स्वर्गैकसां) स्वर्गवासी देवों को (मानसं) मन सम्बन्धी बाधा रहती है (इति) इस प्रकार (विश्वं) इस गति को (कष्टकलितं) दुःखों से भरा हुआ (सदा)

हमेशा (वीक्ष्य) देखकर (मुक्तये) मुक्त होने के लिए (मतिः) अपनी बुद्धि (कार्या) करनी योग्य है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जगत के क्षण भंगुर पदार्थों के लिए प्रयत्न करना वृथा है–

सर्वे नश्यति यत्नतोऽपि रचितं कृत्वा श्रमं दुष्करं।
कार्येरूपमिवक्षणेन सलिले सांसारिकं सर्वथा।
यत्तत्रापि विधीयते बत कुतः मूढ़ प्रवृत्तिस्त्वया।
कृत्ये क्वापि हि केवल श्रम करे न व्याप्रियन्ते बूधाः॥४०॥

अन्वयार्थ–(सलिले) पानी में (रूप इव) मिट्टी की पुतली के समान (दुष्करं) कठिन (श्रमं) परिश्रम (कृत्वा) करके (यत्नतः अपि रचितं) यत्न से भी बनाया गया (सर्वं) सब (सांसारिक कार्य) संसार का काम (क्षणेन) क्षण भर में (सर्वथा नश्यति) बिल्कुल नाश हो जाता है। (यतः) जब ऐसा है तब (मूढ़) हे मूर्ख (त्वया) तेरे द्वारा (तत्रापि) उसी संसारी कार्य में ही (बत) बड़े खेद की बात है (कुतः) क्यों (प्रवृत्तिः) प्रवृत्ति (विधीयते) को जाती है? (बुधाः) बुद्धिमान प्राणी (केवल श्रम करे) खाली बेमतलब परिश्रम कराने वाले (कृत्ये) कार्य में (क्वापि) कभी भी (हि) निश्चय करके (न व्याप्रियन्ते) व्यापार नहीं करते हैं।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जो आत्माएँ कषायों की तीव्र बाधा से आकुलित हैं वे संसार में ही आशक्त रहती हैं, उनको आत्मिक शांति की परवाह नहीं रहती है–

चित्रोपद्रवसंकुलामुरुकलां निःस्वस्थतां संसृतिं।
मुक्ति नित्यनिरंतरोन्नतसुखामापत्तिभिर्वर्जिताम्॥
प्राणी कोपि कषायमोहितमतिर्नो तत्त्वतो बुध्यते।
मुक्त्वा मुक्तिमनुत्तमामपरथा किं संसृतौ रज्यते॥४१॥

अन्वयार्थ–(चित्रोपद्रवसंकुलाम्) नाना प्रकार की आपत्तियों से भरे हुए (उरुमलां) महा मलीन (निःस्वस्थतां) आत्मिक शांति से रहित महा आकुलतामय (संसृति) इस संसार को तथा (आपत्तिभिर्वर्जिताम्) सर्व

आपत्तियों से रहित (नित्यनिरंतरोन्नतसुखां) व सदा ही बिना अन्तर के उच्च सुख को देने वाली (मुक्ति) मुक्ति को (कोपि) कोई भी (कषायमोहितमतिः) कषाय से बुद्धि को मूढ़ बनाने वाला (प्राणी) मानव (तत्त्वतो) तत्त्वदृष्टि से या वास्तव में (नो बुध्यते) नहीं समझता है। आचार्य कहते हैं फिर वह (अनुत्तमाम्मुक्तिं मुक्त्वा) ऐसी मुक्ति को जिसके समान जगत में कोई उत्तम पदार्थ नहीं है त्याग कर (अपरथा) उससे विरुद्ध (संसृतौ) संसार में (किं) क्यों (रज्यते) राग करता है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि बाहरी पदार्थों पर इच्छा रखने से पाप का संचय होता है–

रे दुःखोदयकारणं गुरुतरं बध्नंति पापं जनाः।
कुर्वाणाः बहुकांक्षया बहुविधा हिंसापराः षट्क्रियाः॥
नीरोगत्वाचकीर्षया विदधतो नापथ्यभुक्तीरमी।
सर्वाङ्गीनमहो व्यथोदयकरं किं यांति रोगोदयं॥82॥

अन्वयार्थ–(रे) अरे! बड़े खेद की बात है कि (जनाः) जग के प्राणी (बहुकांक्षया) तीव्र विषय भोगों की इच्छा के वश होकर (बहुविधा) नाना प्रकार की (हिंसापराः) हिंसा को बढ़ाने वाली (षट्क्रियाः) असि, मसि, वाणिज्य, शिल्प, विद्या, इन छः तरह की आजीविका सम्बन्धी क्रियाओं को (कुर्वाणाः) करते हुए (दुःखोदयकारणं) दुःखों की उत्पत्ति के कारण (गुरुतरं) ऐसे भारी (पापं) पाप कर्म को (बध्नंति) बाँधते रहते हैं (नीरोगत्वाचकीर्षया) रोग रहित होने की इच्छा करके (अमी) ये प्राणी (अपथ्यभुक्तीः) अपथ्य भोजनों को (विदधतः) करते हुए (अहो) अहो! (किं) क्या (सर्वांगीणम्) सर्व अंग में (व्योदयकरं) कष्ट को पैदा करने वाले (रोगदयम्) रोग की उत्पत्ति को (न यांति) नहीं प्राप्त होंगे?

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि कर्म शत्रुओं को नाश करने से ही मोक्ष सुख प्राप्त हो सकता है–

रौद्रैः कर्ममहारिभिर्भववने योगिन्! विचित्रैश्चिरम्।
नायं नायमवापितस्त्वमसुखं यैरुच्चकैर्दुःसहम्॥

तान् रत्नत्रयभावनासिलतया न्यक्कृत्य निर्मूलतो।
राज्यं सिद्धिमहापुरेऽनघसुखं निष्कंटक निर्विशः॥83॥

अन्वयार्थ–(योगिन्) हे योगी (भववने) इस संसाररूपी वन में (यैः) जिन (उच्चकैः) बड़े (रौद्रैः) भयानक (विचित्रैः) नाना प्रकार के (कर्ममहारिभिः) कर्मरूपी तीव्र महा शत्रुओं के द्वारा (चिरम्) अनादि काल से (त्वम्) तून (दुःसहम्) असहनीय (असुखं) दुःख को (अवापितः) पाया है (अयं न अयं न) ऐसा कोई कष्ट बाकी रहा नहीं जो तूने पाया नहीं हो। (तान्) उन कर्मरूपी शत्रुओं को (रत्नत्रयभावनासिलतया) सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकतारूपी भावना की तलवार से (निर्मूलतः) जड़ मूल से (न्यक्कृत्य) ना करके (सिद्धिमहापुरे) मोक्ष के महान नगर में जाकर (अनघसुखं) पाप रहित आनन्द से भरे हुए (निष्कंटक) तथा सर्व बाधारहित (राज्यं) राज्य को (निर्विश) प्राप्त कर।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जो कोई आत्मोन्नति को लक्ष्य में लेकर तप करता है उसको अवश्य शुद्ध आत्मा का लाभ होता है।

मंदाक्रांता वृतं

यो बाह्यार्थे तपसि यतते बाह्यमापद्यतेऽसौ।
यस्त्वात्मार्थे लघु स लभते पूतमात्मानमेव॥
न प्राप्यन्ते क्वचन् कलमाः कोद्रवै रौप्यमाणै-
र्विज्ञायेत्थं कुशलमतयः कुर्वते स्वार्थमेव॥84॥

अन्वयार्थ–(यः) जो कोई (बाह्यार्थे) बाहरी धन, राज्य, स्वर्ग आदि के हेतु से (तपसि) तप करने में (यतते) उद्यम करता है (असौ) वह (बाह्यम्) बाहरी ही पदार्थ को (आपद्यते) पाता है। (तु) परन्तु (यः) जो (आत्मार्थं) आत्मा की सिद्धि के लिए तप करता है (सः) वह (लघु) शीघ्र (पूतम्) पवित्र (आत्मानं)आत्मा को (एव) ही (लभते) पाता है (कोद्रवै रोप्यमाणै) कोदों को यदि बोए जावें तो उनसे (क्वचन) कभी भी (कलमाः) चावल (न प्राप्यंते) नहीं मिल सकते हैं (इत्थं)

ऐसा (विज्ञाय) जानकर (कुशलमतयः) निपुण बुद्धि वाले (स्वार्थम्) अपने आत्मा के कार्य को (एव) ही (कुर्वते) कहते हैं।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि अज्ञानी लोग धन आदि बाहरी पदार्थों को ही अपना समझते हैं–

कांतासद्मशरीरजप्रभृतयो ये सर्वथाप्यात्मनो।
भिन्नाः कर्मभवाः समीरणचला भावा बहिर्भाविनः॥
तैः संपत्तिमिहात्मनो गतधियो जानन्ति ये शर्मदां।
स्वं संकल्पवशेन ये विदधते नाकीशलक्ष्मीं स्फुटम्॥85॥

अन्वयार्थ–(ये) जो (कांतासद्मशरीरजप्रभृतयः) ये स्त्री, मकान, पुत्र आदि पर्याय (सर्वथापि) सर्व प्रकार से ही (आत्मनः भिन्नः) अपने आत्मा से भिन्न हैं (बहिर्भाविनः भावः) बाहर रहने वाले पदार्थ हैं (समीरणचलाः) तथा पवन के समान चंचल हैं, टिकने वाले नहीं हैं (कर्मभवाः) ये सब कर्मों के उदय से होने वाले हैं। (इह) इस जगत में (ये) जो (गतधियः) बुद्धि रहित प्राणी (तैः) इन ही पदार्थों से (आत्मनः) अपने को (शर्मदां) सुख देने वाली (संपत्तिं) संपत्ति (जानंति) जानते हैं (ते) वे (स्फुटम्) प्रगटपने (संकल्पवशेन) अपने मन के संकल्प से ही (स्वं) अपने पास (नाकीशलक्ष्मीं) स्वर्ग की लक्ष्मी को मानो (विदधते) प्राप्त करते रहते हैं।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जगत के पदार्थों से राग दुःखकारी है जबकि वैराग्य सुखकारी है–

मंदाक्रांता छंद

यद्रक्तानां भवति भुवने कर्म बंधायपुंसां।
नीरागाणां कलिमलमुचे तद्धि मोक्षाय वस्तु॥
यन्मृत्यर्थं दधिगुडघृतं सन्निपाताकुलानां।
नीरोगाणां वितरति परां तद्धि पुष्टिं प्रकृष्टाम्॥86॥

अन्वयार्थ–(भुवने) इस लोक में (यद् वस्तु) जो पदार्थ (रक्तानां) रागी

पुरुषों के लिए (कर्मबंधाय) कर्मों के बंध के लिए (भवति) होता है (तत् हि) वह ही पदार्थ (नीरागाणां) वीतरागी पुरुषों के लिए (कलिमलमुचे मोक्षाय) कर्मरूपी मल को छुड़ाकर मोक्ष के लिए होता है जैसे (यत् दधिगुड़घृत) जो दही गुड़ तथा घी (सन्निपाताकुलानां) सन्निपात से व्याकुल पुरुषों के लिए (मृत्यर्थं) मरण के लिए होता है (तत् हि) वह ही (नीरोगाणां) निरोगी पुरुष को (परां प्रकृष्टां पुष्टिं) बहुत पुष्टि या शक्ति (वितरति) देता है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि लोभ कषाय ज्ञानी मानवों को भी संताप का कारण है–

सम्यग्दर्शनबोधसंयमतपः शीलादिभाजोऽपि नो।
संक्लेशो विनिवर्तते भवभृतो लोभानलं विभ्रतः॥
विभ्राणस्य विचित्ररत्न नचितं दुष्प्रापपारं पयः।
संतापं किमुदन्वतो न कुरुते मध्यस्थितो वाडवः॥87॥

अन्वयार्थ–(भवभृतः) संसार में रहने वाले प्राणी के (सम्यग्दर्शन बोध संयमतपः शीलादिभाजः अपि) जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान संयम तप व शील आदि गुणों को रखने वाला भी है, परन्तु यदि (लोभानलं विभ्रतः) उसके मन में लोभ की आग जल रही है तो उसके पास से (संक्लेशो) संक्लेशभाव (नो विनिवर्तते) नहीं हटता है। (विचित्ररत्ननिचितं) नाना प्रकार रत्नों के समूह को व (दुष्प्रापपारं पयः) जिसका पार करना कठिन है ऐसे जल को (विभ्राणस्य) धारण करने वाले (उदन्वतः) समुद्र के (मध्यस्थितः) बीच में रहा हुआ (वाड़वः) दावानल (किं) क्या (संतापं) संताप को या क्षोभ को (न कुरुते) नहीं करता है?

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि मोहांध पुरुष पर के पदार्थ को अपना ही समझ लेते हैं परन्तु निर्मोही नहीं जानता–

मंदाक्रांता वृत्तम्

मोहांधानां स्फुरति हृदये बाह्यमात्मीयबुद्ध्या।
निर्मोहानां व्यवगतमलः शश्वदात्मैव नित्यः॥

यत्तद्भेदं यदि विविदिषा ते स्वकीयं स्वकीयै-
र्मोहं चित्त! क्षपयसि तदा किं न दुष्टं क्षणेन॥४४॥

अन्वयार्थ–(मोहांधानां) मोह से अंधे जीवों के (हृदये) हृदय में (बाह्यम्) बाह्य स्त्री, पुत्र शरीरादि पदार्थ (आत्मीयबुद्ध्या) अपने आत्मपने की बुद्धि से अर्थात् वह अपना ही है ऐसा (स्फुरति) झलकता है। (निर्मोहानां) मोह रहित पुरुषों के हृदय में (व्यपगतमलः) कर्ममैल से रहित (नित्यः) अविनाशी (आत्मा एव) आत्मा ही (शश्वत्) सदा अपनापने की बुद्धि से झलकता है। (चित्त) हे मन! (यदि यत्) अगर जो (तद् भेदं) इन दोनों के भेद को (ते विविदिषा) तू समझ गया है (तदा) तब (स्वकीयैः) इन अपनों से अर्थात् इन स्त्री पुत्रादि से जिनको तूने अपना मान रखा है (स्वकीयं) अपनेपन का (दुष्टं) दुष्ट (मोहं) मोह (किं न) क्यों नहीं (क्षणेन क्षपयसि) क्षण मात्र में नाश कर देता है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि वीतरागी तपस्वी ही मोक्ष के अधिकारी हैं–

शार्दूलविक्रीडित छंद

स्वात्मारोपितशीलसंयमभरास्त्यक्तान्यसाहायकाः।
कायेनापि विलक्षमाणहृदयाः साहायकं कुर्वता॥
तप्यन्ते परदुष्करं गुरुतपस्तत्रापि ये निस्पृहा।
जन्मारण्यमतीत्य भूरिभयदं गच्छन्ति ते निर्वृतिम्॥४५॥

अन्वयार्थ–(स्वात्मारोपितशीलसंयमभराः) जो शील व संयम के भार से भरे हुए अपने आत्मा में लीन हैं (त्यक्तान्यसाहायकाः) जिन्होंने पर वस्तु के आलम्बन का त्याग किया है (सहायकं कुर्वता कायेन अपिविलक्षमासणहृदयाः) जिनका मन ध्यान के साधन में सहाय करने वाले इस शरीर से भी उदास है ऐसे साधु (परदुष्करं गुरुतपः तप्यते) बहुत भारी कठिन तपस्या तपते हैं। (तत्र अपि ये निष्पृहाः) परन्तु उस तप में भी जो वांछा नहीं रखते हैं अर्थात् जिनका लक्ष्य निज आत्मानुभव पर है (ते) वे (भूरिभयदं) इस अत्यन्त भय देने वाले (जन्मारण्यं) संसार वन

को (अतीत्य) उल्लंघन करके (निर्वृतिम्) मोक्ष को (गच्छंति) चले जाते हैं।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि ऐसे तपसी जो पुण्य की वांछा भी नहीं रखते, बहुत दुर्लभ हैं–

पूर्व कर्म करोति दुःखमशुभं सौख्यं शुभं निर्मितम्।
विज्ञायेत्यशुभं निहंतुमनसो ये पोषयन्ते तपः॥
जायंते शमसंयमैकनिषधस्ते दुर्लभा योगिनो।
ये त्वत्रोभयकर्मनाशनपरास्तेषां किमत्रोच्यते॥७०॥

अन्वयार्थ–(पूर्व अशुभं कर्म) पहले का बांधा हुआ पाप कर्म (दुःखं) दुःख को व (शुभं निर्मितम्) शुभ कर्म बांधा हुआ (सौख्यं) सुख को (करोति) करता है (इति) ऐसा (विज्ञाय) जानकर (ये) जो (अशुभं निहंतुमनसः) पापकर्म को नाश करने की मनसा करके (तपः पोषयंते) तप का साधन करते हैं (ते) वे (शमसंयमैकनिधयः) शांति व संयम के एक निधिरूप (योगिनः) योगी (दुर्लभा जायन्ते) बहुत कठिनता से मिलते हैं (तु) परन्तु (ये) जो (अत्र) इस जगत में (उभयकर्मनाशनपराः) पुण्य पाप दोनों कर्मों के नाश में उद्यमी हों (तेषां) उन साधुओं के संबंध में (अत्र) यहाँ (किं उच्यते) क्या कहा जावे? अर्थात् वे तो दुर्लभ ही हैं।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि साधुजन सदा कर्मशत्रुओं के नाश में उद्यमी रहते हैं–

विच्छेद्यं यदुदीर्य कर्म रभसा संसारविस्तारकम्।
साधूनामुदयागतं स्वयमिदं विच्छेदने कः श्रमः॥
यो गत्वा विजीगीषुणा बलवता वैरी हठाद्धन्यते।
नाहत्वा गृहमागतः स्वयमसौ संत्यज्यते कोविदैः॥७१॥

अन्वयार्थ–(साधूनां) साधुओं के लिए (यत्संसारविस्तारकं कर्म) जो कर्म संसार को बढ़ाने वाला है (रभसा उदीर्य) उसे शीघ्र उदय में लाकर (विच्छेद्यं) छेदना उचित है तब फिर (स्वयं उदयागतं इदं) अपने आप ही

उदय में आए हुए इस कर्म को (विच्छेदने) नाश करने में (कः श्रमः) क्या परिश्रम है या क्या कठिनता है? (बलवता) बलवान (विजीगीषुणा) विजय को चाहने वाला पुरुष (गत्वा) जा करके (यः वैरी) जिस शत्रु को (हठात्) अबलपूर्वक (हन्यते) मारता है (असौ) यह शत्रु (स्वयम्) अपने आप ही (गृहम्) घर में (आगतः) आ गया तब (कोविदैः) बुद्धिमान (अहत्वा) बिना मारे (न संत्यज्यते) नहीं छोड़ते।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि परिग्रह के त्याग बिना मोक्ष का लाभ नहीं हो सकता है–

मालिनी वृत्तम्

व्रजति भृशमधस्ताद् गृह्यमाणेऽर्थजाते।
गतभरमुपरिष्टात्तत्र संत्यज्यमाने॥
हतकहृदय तद्वद्येन यद्वत्तुलाग्रं।
जहिहि दुरितहेतुं तेन संगं त्रिधापि॥92॥

अन्वयार्थ–(हतकहृदय) हे शून्य हृदय! (येन) क्योंकि (यद्वत्) जैसे (तुलाग्रं) तराजु का पलड़ा (तद्वत्) तैसे (भृशम्) बहुत अधिक (अर्थजाते गृह्यमाणे) पदार्थों को ग्रहण करते हुए यह जीव (अधस्तात् व्रजति) नीचे को अर्थात् नर्कनिगोद आदि गति को चला जाता है (तत्र संत्यज्यमाने) और जहां पदार्थों को त्याग दिया जाता है तब (गतभरम्) भार से हल्का होकर (उपरिष्टात्) ऊपर को अर्थात् स्वर्ग या मोक्ष को चला जाता है (तेन) इसलिए (दुरितहेतुं) पापबन्ध का कारण (संगं) परिग्रह को (त्रिधा अपि) मन, वचन, काय तीनों से (जहिहि) त्याग दें।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि तप को पालते हुए उसे शुद्ध रखना चाहिए मलीन नहीं करना चाहिए–

सद्यो हन्ति दुरंतसंसृतिकरं यत्पूर्वकं पातकम्॥
शुद्ध्यर्थं विमलं विधाय मलिनं तत्सेवते यस्तपः॥
शुद्धिं याति कदाचनापि गतधीर्नासाववद्यार्जकम्।
एकीकृत्य जलं मलाचिततनुः स्नातः कुतः शुध्यति॥93॥

अन्वयार्थ–(यत्) जो (विमलं तपः) निर्मल तप (दुरन्तसंसृतिकरं) दुःखमयी संसार को बढ़ाने वाले (पूर्वकम्) पूर्व में किए हुए (पातकं) पाप को (सद्यः) शीघ्र ही (हन्ति) नाश कर सकता है (तत्) उस तप को (मलिनं) मलीन व (अवद्यार्जकम्) पाप को बांधने वाला ऐसा (विधाय) करके (यः) जो कोई (शुद्ध्यर्थं) कर्मों के मैल से शुद्ध होने के लिए (सेवते) सेवन करता है (असौ) वह (गतधीः) निर्बुद्धि (कदाचनापि) कभी भी (न शुद्धिं याति) नहीं शुद्ध हो सकता है (मलाचिततनुः) मल से जिसका शरीर भरा हुआ है ऐसा पुरुष (जलं एकीकृत्य) जल को मैल से मिलाकर (स्नातः) स्नान करते हुए (कुतः) किस प्रकार (शुध्यति) मल रहित शुद्ध हो सकता है?

उत्थानिका–आगे कहते हैं भेदज्ञान द्वारा प्राप्त शुद्ध ध्यान से ही कर्मों का नाश होता है–

लब्ध्वा दुर्लभभेदयोः सपदि ये देहात्मनोरंतरम्।
दग्ध्वाध्यानहुताशनेन मुनयः शुद्धेन कर्मेन्धनम्॥
लोकालोकविलोकिलोकनयना भूत्वा द्विलोकार्चिताः।
पंथानं कथयंति सिद्धिवसतेस्ते संतु नः सिद्धये॥94॥

अन्वयार्थ–(ये) जो (मुनयः) मुनि (दुर्लभभेदयो देहात्मनो) कठिनता से भिन्न-भिन्न किए जाने योग्य शरीर और आत्मा के (अंतरम्) भेद को (सपदि लब्ध्वा) शीघ्र पा करके तथा (शुद्धेन) शुद्ध वीतरागता मयी (ध्यानहुताशनेन) आत्मध्यान की अग्नि से (कर्मेन्धनम्) कर्मों के ईंधन को (दग्ध्वा) जला करके (लोकालोकविलोकिलोकनयना) लोक और अलोक को देखने वाले केवलज्ञान नेत्र के धारी हो जाते हैं तथा (द्विलोकार्चिताः) इस लोक के चक्रवर्ती आदि मानव व परलोक के इन्द्रादि देव आदि के द्वारा पूजे जाते हैं (भूत्वा) ऐसे महान परमात्मा अरहंत होकर (सिद्धिवसतेः) मोक्षरूपी वसती के (पंथानं) मार्ग को (कथयंति) कहते हैं (ते) वे (नः) हम लोगों को (सिद्धये) सिद्धि के लिए (संतु) होवें।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि मुनीश्वरों का चारित्र ही आश्चर्यकारी है जो कर्मों को नाश कर देता है–

येषां ज्ञानकृषानुरुज्ज्वलतरः सम्यक्त्ववातेरितो
विस्पष्टीकृतसर्वतत्त्वसमितिर्दग्धे विपापैधसि।
दत्तोत्तप्तिमनस्तमस्ततिहतेदैदीप्यते सर्वदा।
नाश्चर्यं रचयन्ति चित्रचरिताश्चारित्रिणः कस्य ते॥95॥

अन्वयार्थ–(येषां) जिनकी (ज्ञानकृषानुः) सम्यग्ज्ञानरूपी अग्नि (उज्ज्वलतरः) अपने प्रकाश में बढ़ी हुई (सम्यक्त्वावातेरितः) सम्यग्दर्शनरूपी हवा से ध धौंकी हुई (विपापैधसि दग्धे) कर्मरूपी ईंधन को जला देने पर (दत्तोत्तप्तिमनस्तमस्ततिहतेः) व मन को आकुलित करने वाले सर्व रागादिक अंधकार को दूर कर देने पर (विस्पष्टीकृतसर्वतत्त्वसमितिः) सर्व पदार्थों के व तत्त्वों के समूह को एक ही काल स्पष्ट प्रकाश करती हुई अर्थात् केवलज्ञान रूप होती हुई (सर्वदा) सदा ही (दैदीप्यते) जलती रहती है (ते चित्रचरिताः) ऐसे विचित्र आचरण के (चारित्रिणः) आचरण करने वाले साधुगण (कस्य) किसके भीतर (आश्चर्यं) आश्चर्य को (न रचयन्ति) नहीं पैदा करते हैं? अर्थात् उनका चारित्र आश्चर्यकारी ही है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जब तक किंचित् भी स्नेह का लगाव रहेगा तब तक कर्मों का नाश न होगा। इसलिए ध्यानी को वीतरागी होना चाहिए–

यावच्चेतसि बाह्यवस्तुविषयः स्नेहः स्थिरो वर्तते।
तावन्नश्यति दुःखदानकुशलः कर्मप्रपंचः कथम्॥
आद्रत्वे वसुधातलस्य सजटाः शुष्यन्ति किं पादपाः।
भृज्जत्तापनिपातरोधनपराः शाखोपशाखान्विताः॥96॥

अन्वयार्थ–(यावत्) जब तक (चेतसि) चित्त में (बाह्यवस्तुविषयः) बाहरी पदार्थ संबंधी (स्नेहः) राग (स्थिरः) स्थिर रूप से (वर्तते) पाया जाता है (तावत्) तब तक (दुःखदानकुशलः) दुःख देने में कुशल ऐसा जो (कर्मप्रपंचः) कर्मों के जाल से (कथ) किस तरह (नश्यति) नाश

हो सकता है? (वसुधातलस्य) जमीन के तले के (आर्द्रत्वे) गीले पने के होते हुए (भृज्जत्तापनिपातरोधनपराः) अत्यन्त सूर्य के आताप को रोकने वाले (शाखोपशाखान्विताः) शाखा तथा उपशाखा से पूर्ण (सजटाः) तथा जटावाले (पादपाः) वृक्ष (किंशुष्यंति) कैसे सूख सकते हैं? अर्थात् नहीं सूख सकते हैं।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जो विषय भोगों के लिए तप को छोड़ देते हैं वे निन्दा के योग्य हैं–

चक्री चक्रमपाकरोति तपसे यत्तन्न चित्रं सताम्।
सूरीणां यदनश्वरीमनुपमां दत्ते तपः संपदम्॥
तच्चित्रं परमं यदत्र विषयं गृह्णाति हित्वा तपो।
दत्तेऽसौ यदनेकदुखमवरे भीमे भवाम्भोनिधौ॥97॥

अन्वयार्थ–(यत्) जो (चक्री) चक्रवर्ती (तपसे) उस ताप के लिए (यत्) जो (तपः) तप (सूरीणां) साधुओं को (अनश्वरीं) अविनाशी (अनुपमां) और उपमा रहित (संपदम्) मोक्षलक्ष्मी को (दत्त) देता है (चक्रं) चक्रवर्ती के राज्य को (अपाकरोति) छोड़ देते हैं (यत्) सो (सताम्) सज्जनों के लिए (चित्तं) आश्चर्यकारी (न) नहीं है। (यत्) जो (अत्र) इस संसार में (असौ) कोई साधु (तपः) तप को (हित्वा) छोड़कर (विषयं) उस इंद्रिय के विषयभोग को (गृह्णाति) ग्रहण करता है (यत्) जो विषयभोग (अवरेभीमे भवाम्भोनिधौ) इस महान् भयानक संसार समुद्र में (अनेकदुःखम्) अनेक दुःखों को (दत्ते) देने वाला है (तत्) यह बात (परमं चित्रं) बहुत ही आश्चर्यकारी है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि आत्मा के सिवाय सर्व बाहरी पदार्थ त्यागने योग्य हैं–

शिखरिणी छंद

रामाः पापाविरामस्तनयपरिजनाः निर्मिता बह्वनर्था।
गात्रं व्याध्यादिपात्रं जितपवनजवा मूढ लक्ष्मीरशेषा॥

किं रे दुष्टं त्वयात्मन् भवगहनवने भ्राम्यता सौख्यहेतुर्येन।
त्वं स्वार्थनिष्ठो भवसि न सततं बाह्यमत्यस्य सर्वं॥98॥

अन्वयार्थ–(मूढ़) रे मूर्ख! (रामाः) स्त्रियाँ (पापाविरामः) पापों की खान हैं अर्थात् पापों को उत्पन्न कराने वाली हैं (तनयपरिजनाः) पुत्र व अन्य परिवार (बहु अनर्थाः निर्मिताः) अनेक अनर्थों के कारण हैं (गात्रं) यह शरीर (व्याध्यादिपात्रं) रोग आदि कष्टों का ठिकाना है (अशेष लक्ष्मीः) सम्पूर्ण लक्ष्मी (जितपवनजवा) पवन के वेग से अधिक चंचल है (रे आत्मन्) हे आत्मन् (त्वया) तूने (भवगहनवने भ्राम्यता) इस संसार के भयानक वन में भ्रमण करते हुए (सौख्यहेतुः) सुख का कारण (किं दृष्टं) क्या देखता है? (येन) जिस कारण से (त्वं) तू (सर्व बाह्यं) सर्व बाहरी पदार्थ को (अत्यस्य) भले प्रकार त्याग करके (सततं) सदा (स्वार्थनिष्ठः) अपने आत्मा में लीन (न भवसि) नहीं होता है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि मात्र ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त नहीं होता रत्नत्रय की जरूरत है–

सम्यक्त्वज्ञानवृत्तत्रयमनघमृते ज्ञानमात्रेण मूढा।
लंघित्वा जन्मदुर्गं निरुपमितसुखां ये यियासन्ति सिद्धिं॥
ते शिश्रीषन्ति नूनं निजपुरमुदधिं बाहुयुग्मेन तीर्त्वा।
कल्पांतोद्भूतवातक्षुभितजलचरासारकीर्णान्तरालम्॥99॥

अन्वयार्थ–(ये मूढाः) जो मूर्ख पुरुष (अनघं) निर्दोष (सम्यक्त्वज्ञान वृत्तत्रयम्) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इन तीन रत्नों के (ऋते) बिना (ज्ञानमात्रेण) अकेले एक ज्ञान से (जन्मदुर्गं) संसार के किले को (लंघित्वा) लाँघकर (निरुपमितसुखांसिद्धिं) अनुपम सुख को रखने वाली सिद्धि को (यियासंति) पाना चाहते हैं (ते) वे (नूनं) मानो (बाहुयुग्मेन) अपनी दोनों भुजाओं से (कल्पांतोद्भूतवातक्षुभितजल - चरासारकीर्णन्तरालम् उदधिं) कल्पांतकाल की पवन से उद्धत तथा जलचरों से भरे हुए समुद्र को (तीर्त्वा) तैर कर के (निजपुरम्) अपने स्थान को (शिश्रीषन्ति) जाना चाहते हैं।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जो साधु रत्नत्रय सहित तप करते हैं उन्हीं का जीतव्य सफ़ल है–

शार्दूलविक्रीडितं

ये ज्ञात्वा भवमुक्तिकारणगणं बुद्ध्या सदा शुद्ध्या।
कृत्वा चेतसि मुक्तिकारणगणं त्रेधा विमुच्यापरम्॥
जन्मारण्यनिसूदनक्षमभरं जैनं तपः कुर्वते।
तेषां जन्म च जीवितं च सफलं पुण्यात्मनां योगिनां॥100॥

अन्वयार्थ–(ये) जो मुनिगण (सदा) सदा ही (शुद्धया-बुद्धया) निर्मल बुद्धि के द्वारा (भवमुक्तिकारणगणं) संसार के कारणों को और मोक्ष के कारणों को (ज्ञात्वा) जान करके (त्रेधा) मन, वचन, काय तीनों से (अपरं) इस संसार के जो कारण हैं उनको (विमुच्य) त्याग करके (चेतसि) अपने चित्त में (मुक्तिकारणगणं) मोक्ष के कारण रत्नत्रय को (कृत्वा) धार करके (जन्मारण्यनिसूदनक्षमभरं) संसाररूपी वन के नाश करने को समर्थ ऐसे (जैनं तपः) जैन के तप को (कुर्वते) साधते हैं (तेषां पुण्यात्मनां योगिनां) उन्हीं पवित्र आत्मा योगियों का (च) ही (जन्म) जन्म-जन्म (च जीवितं) और जीवन (सफ़लं) सफ़ल है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि विषय सेवन विष खाने के समान है–

शार्दूलविक्रीडित छंद

यो निःश्रेयसशर्मदानकुशलं संत्यज्य रत्नत्रयम्।
भीमं दुर्गमवेदनोदयकरं भोगं मिथः सेवते॥
मन्ये प्राणविपर्ययादिजनकं हालाहलं बल्भते।
सद्यो जन्मजरांतकक्षयकरं पीयूषमत्यस्य सः॥101॥

अन्वयार्थ–(यः) जो कोई (निःश्रेयसशर्मदानकुशलं) मोक्ष के सुख देने में चतुर ऐसे (रत्नत्रयम्) रत्नत्रय को (संत्यज्य) छोड़ करके (भीमं दुर्गमवेदनोदयकरं) भयानक और अचिंत्य वेदना को पैदा करने वाले (भोगं) भोग को (मिथः) एकांत में छिपके (सेवते) सेवन करता है

(मन्ये) मैं ऐसा मानता हूँ कि (सः) वह (जन्मजरांतकक्षयकरं) जन्म जरा मरण को क्षय करने वाले (पीयूषं) अमृत को (अत्यस्य) छोड़कर (सद्यः) शीघ्र ही (प्राणीविपर्यादिजनकं) प्राणों के घात करने वाले (हलाहलं) हलाहल विष को (बल्भते) पीता है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि दुःख सुख में जो समता धारण करते हैं उनको नया कर्मबन्ध नहीं होता–

हरिणी छंद

भवति भविनः सौख्यं दुःखं पुराकृतकर्मणः।
स्फुरति हृदये रागो द्वेषः कदाचन मे कथम्॥
मनसि समतां विज्ञायेत्थं तयोर्विदधाति यः।
क्षपयति सुधीः पूर्वं पापं चिनोति न नूतनम्॥102॥

अन्वयार्थ–(पुराकृतकर्मणः) पिछले बांधे हुए कर्मों के उदय से (भविनः) इस संसारी प्राणी के (सौख्यं दुःखं) सुख तथा दुःख होता है। तब (मे हृदये) मेरे हृदय में (कथम्) किसलिए (कदाचन) कभी में (रागोद्वेषः) राग द्वेष (स्फुरति) प्रगट होता है (इत्थं) ऐसा (विज्ञाय) समझकर (यः) जो कोई (मनसि) मन के भीतर (तयोः) उन दोनों सुख तथा दुःख में (समता) समभाव को (दधाति) धारण करता है (सुधीः) वह बुद्धिमान (पूर्वं पापं) पहले के पाप को (क्षपयति) क्षय करता है (नूतनम्) नए पाप को (न चिनोतिं) नहीं बांधता है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि कषाय सहित तप कर्मों की निर्जरा न करके कर्मों का बाँधने वाला है–

क्षपयितुमनाः कर्मानिष्टं तपोभिरनिंदितैः।
नयात रभसा वृद्धिं नीचः कषायपरायणः॥
बुधजनमैः किं भेषज्यैर्निसूदितुमुद्यतः।
प्रथयति गदं तं नापथ्यात्कदार्थितविग्रहम्॥103॥

अन्यवार्थ– (आनन्दितैः) उत्तम (तपोभिः) तपों के द्वारा (अनिष्टं कर्म) अहितकारी कर्म को (क्षपयितु मनाः) नाश करने की मनसा रखता हुआ

(नोचः) नीच मनुष्य (कषायपरायणः) क्रोधादिक कषायों में लीन होता हुआ (रभसा) शीघ्र ही (वृद्धिनयति) कर्मों को और अधिक बढ़ा लेता है जैसे (बुद्धजनमैः) बुद्धिमानों के द्वारा सम्मत (भेषज्यैः) औषधियों से (कदार्थितविग्रहम्) शरीर को दुःखदाई (गदं) रोग को (निसूदितुम्)नाश करने के लिये (उद्यतः) उद्यमी पुरुष (अपथ्यात्) अपथ्य सेवन करने से (तं) उस रोग को (किं न) क्या नहीं (प्रथयति) बढ़ा लेता है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जो साधु शरीर की रक्षा के लिए आहार मात्र लेते हुए लज्जा पाते हैं वे वस्त्रादिक परिग्रह को कैसे स्वीकार करेंगे?

शार्दूलविक्रीडित छन्द

सद्रत्नत्रयपोषणाय वपुषस्त्याज्यस्य रक्षापराः।
दत्तं येशनमात्रकंगतमलं धर्मार्थिभिर्दातृभिः॥
लज्जंते परिगृह्य मुक्तिविषये बद्धस्पृहा निस्पहा–
स्ते गृह्णन्ति परिग्रह दसधरा किं संयमध्वंसकम्॥104॥

अन्यवार्थ– (ये) जो (मुक्तिविषये) मोक्ष के सम्बंध में (बद्धस्पृहा) अपनी उत्कंठा को बांधने वाले (निस्पृह) संसारीक इच्छा के त्यागी हैं और (सद्रत्नत्रयपोषणाय) सच्चे रत्नत्रय धर्म को पालने के लिये (त्याज्यस्य) त्यागने योग्य (वपुषः) इस शरीर की (रक्षापराः) रक्षा में तत्पर हैं और जो (धर्मार्थिभिः) धर्मात्मा (दातृभिः) दातारों से (दत्तं) दिये हुये (गतमलं) दोष रहित (अशन मात्रकं) भोजन पात्र को (परिग्रहं) ग्रहण करके (लज्जंते) लज्जा को प्राप्त होते हैं (ते दमधराः) वे संयम के धारी यति (किं) क्या (संयमध्वसंकम्) संयम को नाश करने वाली (परिग्रहं) परिग्रह को (गृह्णन्ति) ग्रहण करते हैं।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि यथार्थ तत्त्व के ज्ञाता जगत में दुर्लभ हैं–

ये लोकोत्तरतां च दर्शनपरां दूतीं विमुक्तिश्रिये।
रोचन्ते जिनभारतीमनुपमां जल्पंति श्रृण्वन्ति च॥

लोके भूरिकषायदोषमलिने ते सज्जना दुर्लभाः।
ये कुर्वन्ति तदर्थमुत्तमधियस्तेषां किमत्रोच्यते॥105॥

अन्वयार्थ– (भूरिकषायदोषमलिने लोके) तीव्र कषायों के दोष से मलीन ऐसे इस जगत में (ये सज्जनाः) जो सज्जन (विमुक्तिश्रिये) मोक्षरूपी लक्ष्मी के मिलाने के लिये (दूतों) दूतों के समान (च) और (लोकोत्तरतां) लोक से तरने का मार्ग बताने वाली तथा (दर्शनपरां) सम्यग्दर्शन को दिखाने वाली (अनुपमां) व जिसकी उपमा जगत में नहीं हो सकती है ऐसी (जिन भारतीम्) जिन वाणी को (जल्पंति) पढ़ते हैं (श्रृण्वंति) सुनते हैं (च रोचते) और उस पर रुचि लाते हैं (ते दुर्लभाः) वे कठिन हैं तब (ये) जो (तदर्थम्) उस मुक्ति के लिये (उत्तमधियः) उत्तम ज्ञान का (कुर्वन्ति) साधन करते हैं। (अत्र) यहाँ (तेषां किं उच्यते) उनके लिये क्या कहा जावे?

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जो इस संसार समुद्र से तर गए हैं वे अरहंत इसी प्रकार की शिक्षा देते हैं कि अन्य जीव भी तिरें–

ये स्तूयां जन्मसिंधोरसुखमिततेर्लोलया तारयित्वा।
नित्यं निर्वाणलक्ष्मीं बुधसमितिमतां निर्मलामर्पयन्ते॥
स्वाधीनास्तेऽपि यत्तद्व्यपगततमोज्ञानसम्यक्त्वपूर्वाः।
पोष्यन्ते नान्यशिक्षां मम परममुभौ विद्यते नात्र चित्रम्॥106॥

अन्यवार्थ– (ये) जो (असुखमिततेःजन्मसिंधोः) दुःखों के समूहसे भरे हुये संसार समुद्र से (लीलया तारयित्वा) लीला मात्र में पार उतारकर (स्तूयां) प्रशंसनीय (नित्यं) अविनाशी (बुधसमितिमतां) बुद्धिमानों से माननीय (निर्मलाम्) निर्मल (निर्वाणलक्ष्मी) मोक्ष लक्ष्मी को (अर्पयन्ते) प्रदान करते हैं (तेपि) के ही (स्वाधीनाः) स्वाधीन है (यत्तत्) क्योंकि (व्यपगततमोज्ञानसम्यक्त्वपूर्वाः) उनका अज्ञान अन्धकार सम्यक्त्वपूर्वक ज्ञान द्वारा नष्ट हो चुका है वे (अन्यशिक्षां न पोष्यंते) अन्य शिक्षा की पुष्टि नहीं करते हैं (अत्र) यहां (मम उरो) मेरे दिल में (परं चित्र) कोई परम आश्चर्य (न विद्यते) नहीं होता है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि इस संसार में कोई वस्तु सुखदायक नहीं है–

ध्रुवापायः कायः परिभवभवाः सर्वविभवाः।
सदानार्या भार्याः स्वजनतनयाः कायविनयाः॥
असारे संसारे विगतशरणे दत्तमरणे।
दुराराधेऽगाधे किमपि सुखदं नापरपदं॥107॥

अन्यवार्थ– (कायः) यह शरीर (ध्रुवापायः) निश्चय से नाश होने वाला है (सर्वविभवाः) सर्व सम्पत्तियों (परिभवभवाः) वियोग के सम्मुख हैं (भार्याः) स्त्रियाँ (सदा अनार्या) सदा हो सुखकारी व हितकारी व सभ्यतासे व्यवहार करने वाली नहीं है (स्वजनतनयाः) अपने कुटुम्बी या पुत्र (कार्यविनयाः) अपने मतलब से विनय करने वाले है (दत्तमरणे) मरण को देने वाले (विगतशरणे) व शरण रहित (अगाधे) बहुत गहरे (दुराराधे) दुःखों से भी जिसका तरना कठिन है (असारे संसारे) ऐसे इस सार रहित संसार में (अपरपदं) सिवाय मोक्ष के दूसरा कोई पद (सूखदं न) सुख का देने वाला नहीं है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि मरण से कोई बच नहीं सकता–

मालिनी वृत्तम्

असुरसुरविभूनां हंति कालः श्रियं यो।
भवति न मनुजानां विघ्नतस्तस्य खदः॥
विचलयति गिरीणां चूलिकां यः समीरो।
गृहशिखरपताका कंपते किं न तेन॥108॥

अन्वयार्थ– (यः कालः) जो मरणरुपी काल (असुरसुरविभूनां) भवनवासी, व्यंतर व ज्योतिषी तथा स्वर्गवासी देवों के स्वामियों की (श्रेयं) लक्ष्मी को (हंति) नाश कर देता है (तस्य) उस काल को (मनुजानां) मनुष्यों की सम्पत्तको (विघ्नतः) हर लेने में (खेदः) खेद (न भवति) नहीं हो

सकता है (यः समीरः) जो पवन (गिरीणां चूलिकां) पहाड़ों की चोटियों को (विचलयति) हिला देती है (तेन) उस पवन से (गृहशिखरपताका) घर के शिखर को ध्वजा (किं न कंपते) क्यों न कांप जायेगी?

उत्थानिका–आगे जगत के पदार्थों की चंचलता को दिखाते हैं–

द्रूतविलंबित छन्द

सकललोकमनोहरणक्षमाः करणयौवनजीवित संपदः।
कमलपत्रपयोलवचंचलाः किमपि न स्थिरमस्ति जगत्त्रये॥109॥

अन्यवार्थ– (सकललोकमनोहरणक्षमाः) सर्व लोगों के मन को हरण करने में समर्थ (करणयौवनजीवितसम्पदः) इंद्रियों की युवानी व जीवन व सम्पत्तियाँ (कमलपत्रपयोलवचंचलाः) कमल के पत्ते पर पड़े हुये पानी की बूंद की तरह चंचल है (जगत्त्रये) तीनों ही लोक में (किमपि स्थिरं न अस्ति) कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि मरण किसी को भी नहीं छोड़ता–

द्रूतविलंबित छन्द

बलवतो महिषाधिपवाहनो निरुनिर्लिपपतीनपहंति यः।
अपरमानववर्गविमर्दने भवति तस्य कदाचन न श्रमः॥110॥

अन्वयार्थ– (यः) जो (बलवतः) बलवान (महिषाधिपवाहनः) बड़े भैसों की सवारी करने वाला ऐसा यमराज (निरुनिर्लिपपतीन्) देवों के स्वामियों को (अपहंति) नाश कर देता है। (तस्य) उस काल को (अपरमानववर्गविमर्दने) दूसरे मानवों के गर्वको खण्ठन करने में (कदाचन) कभी भी (श्रमः) मेहनत (न भवति) नहीं करनी पड़ती है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि इस जगत में कोई वस्तु सुखदाई नहीं है–

स्वजनसंगतिरेव वितापिनो भवति यौवनिका जरसा रसा।
विपदवैति सखीव च संपदम् किमति शर्मविंधायिन दृश्यते॥111॥

अन्वयार्थ– (स्वजनसंगतिः) अपने बंधुजनों की संगति (एव) ही (वितापिनी) उसके वियोग में दुःख देने वाली हो जाती है (यौवनिका) युवानी (जरसा रसा) बुढ़ापे के साथ है (विपत्) आपत्ति (सखी इव) सखी के समान (संपदम्) सम्पत्ति के पास (अवैति) जाती है। (शर्मविधयि) सुख देने वाली (किमपि) कोई भी वस्तु (न दृश्यते) नहीं दिखलाई पड़ती है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि मरण से कोई भी रक्षा करने वाला नहीं है–

सचिवमंत्रिपदातिपुरोहितास्त्रिदशखेचरदैत्यपुरंदराः।
यमभटेन पुरस्कृतमातुरं भवभृतं प्रभवंति न रक्षितुम्॥112॥

अन्वयार्थ– (सचिवमंत्रिपदातिपुरोहिताः) दीवान, मंत्री, पैदल, पुरोहित तथा (त्रिदशखेचरदैत्यपुरंदराः) देव, विद्याधर, दैत्य, इन्द्र (यमभटेन) यमराजरुपी योद्धा से (पुरस्कृतम्) पकड़े हुये (आतुरं) दुःखी (भवभृतं) संसारी प्राणी को (रक्षितुम्) रक्षा करने को (न प्रभवंति) समर्थ नहीं होते हैं।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि इस संसार में कोई अपना रक्षक नहीं है–

बालकृतोऽशनतोऽपि विपद्यते,
यदि जनो न तदा परतः कथम्।
यदि निहन्ति शिशु जननी हिता,
न परमस्ति तदा शरणं ध्रुवम्॥113॥

अन्वयार्थ– (यदि) यदि (जनः) यह मानव (बलकृतः) शरीर को बलदाई (अशनतः अपि) भोजन से ही (विपद्यते) विपत्ति में आ जाते हैं, रोगी हो जाते हैं तथा मरण कर जाते हैं (तदा) तब (परतः) दूसरे विष आदि पदार्थों से (कथम्) किस तरह बच सकते हैं? (यदि) जब (हिता) हितकारी (जननी) माता (शिशु) बच्चे को (निहंति) मार डालती है (तदा) तब (ध्रुवं) निश्चयसे (शरणं) शरण में रखने वाला (पर न अस्ति) दूसरा कोई नहीं है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि इस जीव को अपनी करणों का फल

अकेला ही भोगना पड़ता है–

विविधसंग्रहकल्मषमंगिनो विदधतेंगकुटुंबकहेतवे।
अनुभवंत्यसुखं पुनरेकका नरकवासमुपेत्य सुदुसहम्॥114॥

अन्वयार्थ–(अंगिनः) यह शरीरधारी प्राणी (अंगकुटुम्बकहेतवे) अपने शरीर तथा अपने कुटुम्ब के (विविधसंग्रहकल्मषं) नाना प्रकार के पाप के संचय को (विदधते) करते रहते हैं (पुनः) परन्तु (एकका) अकेले ही (नरकवासं) नरक के स्थान में (उपेत्य) जाकर के (सुदुस्सहं) अति दुःसह (असुखं) दुःख को (अनुभवंति) भोगते हैं।

उत्थानिका–आगे कहते हैं जब आत्मा के साथ यह शरीर ही नहीं जा सकता है तब अन्य पदार्थ कैसे साथ जायेंगे–

वसनवाहन भोजनमंदिरैः सुखकरैश्चिरवासमुपासितम्।
व्रजति यत्रसमं न कलेवरं किमपरं वत तत्र गमिष्यति॥115॥

अन्वयार्थ– (सुखकरैः) सुखदाई (वसनवाहनभोजनमंदिरैः) कपड़े, सवारी, भोजन तथा मकानों के द्वारा (चिरवासम्) दीर्घकालवास करके (उपासितम्) सेवन किया हुआ (कलेवरं) यह शरीर (यत्र) जहाँ (समं) साथ (न व्रजति) नहीं जाता है (तत्र) वहाँ (बत) खेद की बात है (अपरं किं) दूसरा क्या (गमिष्यति) साथ जावेगा?

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि इन्द्रियों के विषयों में जो लीन हो जाते हैं वे नाश को प्राप्त होते हैं–

खचरनागसदोदमयन्ति ये कथममी विषया न परं नरम्।
समददन्तिमदं दलयन्ति ये न हरिणं हरयो रहयंति ते॥116॥

अन्वयार्थ– (ये विषयाः) ये इन्द्रियों के विषय जब (खचर-नागसदः) विद्याधर व नागकुमारों के समूह को (दमयन्ति) वश कर लेते हैं तब (अमी) ये (परं नरम्) दूसरे मानव को (कथं न) क्यों नहीं वश कर सकेंगे? (ये हरयः) जो सिंह (समददन्तिमदं) मदवाले हाथियों के मद को (दलयन्ति) चूर्ण कर डालते हैं (ते) वे (हरिणं) हिरण को (न

रहयन्ति) छोड़ने वाले नहीं है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि मोही जीव आत्म हितों में नहीं वर्तता है–

मरणमेति विनश्यति जीवितं, द्युतिरपैति जरा परिवर्धते।
प्रचुरमोहपिशाचवशीकृतस्तदपि नात्महिते रमते जनः॥117॥

अन्वयार्थ– (मरणं एति) मरण आ रहा है (जीवितं विनश्यति) जिंदगी नाश हो रही है (द्युतिः अपैति) युवानी दूर जा रही है (जरा परिवर्धते) बुढ़ापा बढ़ रहा है (तदपि) तो भी (प्रचुरमोहपिशाचवशीकृतः) भयानक मोहरूपी पिशाच के वश में पड़ा हुआ (जनः) यह मानव (आत्महिते) अपने आत्मकल्याण में (न रमते) नहीं प्रेम करता है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि इन्द्रियों के विषय में जो अंधा है वह अपना नाश निकट आने पर धर्म से प्रेम नहीं करता है–

जनन मृत्यु जरानल दीपितं।
जगदिदं सकलोऽपि विलोकते।
तदपि धर्ममतिं विदधाति नो
रतमना विषयाकुलितो जनः॥118॥

अन्वयार्थ– (सकलः) सर्व लोग (अपि) अवश्य (विलोकते) देख रहे हैं कि (इदंजगत्) यह जगत (जननमृत्युजरानलदीपितं) जन्म, मरण व बुढ़ापा इन अग्नियों से बराबर जल रहा है (तदपि) तो भी (रत्नमना विषयाकुलितः जनः) विषयों की चाह में घबड़ाया हुआ मनुष्य मनको उनमें भाता हुआ। (धर्ममतिं) धर्म में बुद्धि को (नो विदधाति) नहीं लगाता है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि गृहस्थ का वास छोड़ने के ही योग्य है–

मालिनी वृत्तम्

क्वचन भजति धर्मं क्वाप्यधर्मं दुरंतम् ।
क्वचिदुभयमनेकं शुद्धबोधोऽपि गेही॥

कथमिति गृहवासः शुद्धिकारी मलाना-
मिति विमलमनस्कैस्त्यज्यते स त्रिधापि॥119॥

अन्वयार्थ– (शुद्धबोधः अपि गेही) शुद्ध ज्ञान को अर्थात् सम्यग्ज्ञान को रखने वाला गृहस्थ भी (क्वचन) किसी जगह तो (धर्मं) धर्म को (क्व) कहीं (दुरंतम् अधर्म) भयानक अधर्म को (क्वचित्) कहीं (अनेकं उभयं) अनेक प्रकार धर्म और अधर्म दोनों को (भजति) सेवन करता है (इति) इसलिए (गृहवासः) गृहस्थ में रहना (कथम्) किस तरह (मलानाम्) पाप के मैलों को (शुद्धिकारी) शुद्ध करने वाला हो सकता है (इति) ऐसा समझ कर (विमलमनस्कैः) निर्मल मन वाले, महात्माओं के द्वारा (सः) यह गृहवास (त्रिधापि) मन, वचन, काय तीनों से ही (त्यज्यते) छोड़ दिया जाता है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जो आत्मा के सच्चे सुख को प्राप्त करना चाहते हैं उनको अपने परमात्मस्वभाव का नित्य चिन्तवन करना उचित है–

सर्वज्ञः सर्वदर्शी भवमरणजरातंकशोकव्यतीतो।
लब्धात्मीयस्वभावः क्षतसकलामलः शश्वदात्मानपायः॥
दक्षैः संकोचिताक्षैर्भवमृतचकितैर्लोकयात्रानपेक्षैः।
नष्टाबाधात्मनीनस्थिरविशदसुखप्राप्तये चिंतनीयः॥120॥

अन्वयार्थ– (दक्षैः) जो चतुर पुरुष (संकोचिताक्षैः) अपनी इंद्रियों को वश में रखने वाले हैं, (भवमृतिचकितैः) जन्म मरण से भयभीत हैं, (लोकयात्रानपेक्षैः) संसार के भ्रमण से उदास हैं उनको (नष्टाबाध ात्मनीनस्थिरविशदसुखप्राप्तये) बाधा रहित, स्थिर व निर्मल आत्मीक सुख की प्राप्ति के लिए (शाश्वत्) सदा ही (सर्वज्ञः) सर्व को जानने वाला (सर्वदर्शी) सर्व को देखने वाला (भवमरणजरातंकशोकव्यतीतः) जन्म, मरण, जरा, शोक आदि दोषों से रहित (लब्धात्मीयस्वभावः) अपने स्वभाव को प्राप्त किए हुए (क्षतसकलमलः) सर्व कर्म मलों से रहित (अनपायः) अविनाशी (आत्मा) अपने आत्मा को ही (चिन्तनीयः) ध्यान में ध्याना योग्य है।

उत्थानिका–आगे ग्रन्थकार ग्रन्थ समाप्त करके आशीर्वाद देते हैं–

वृतैर्विंशशतेनेति कुर्वता तत्वभावनाम्।
सद्योमितगतेरिष्टा निर्वृतिः क्रियते करे॥211॥

अन्वयार्थ– (इति) इस तरह (विंशशतेन) एकसौ बीस (वृतैः) श्लोकों के द्वारा (तत्वभावनाम्) आत्मतत्त्व की भावना को (कुर्वता) करने वाला (सद्यः) शीघ्र ही। (अमितिगतेः इष्टा) सर्वज्ञ को प्रिय या अमितगति आचार्य को प्रिय ऐसी (निर्वृतिः) मुक्ति को (करे क्रियते) अपने हाथ में प्राप्त कर लेता है।

****

प० पू० अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनन्दी जी मुनिराज द्वारा रचित, सम्पादित साहित्य

प्रथमानुयोग शास्त्र

1. नंगानंग कुमार चरित्र
2. मौन व्रत कथा
3. प्रभंजन चरित्र
4. चारुदत्त चरित्र
5. सीता चरित्र
6. सप्त व्यसन चरित्र
7. वीर वर्द्धमान चरित्र-भाग- 1, 2
8. देशभूषण कुलभूषण चरित्र
9. चित्रसेन पद्मावती चरित्र
10. सुदर्शन चरित्र
11. सुरसुन्दी चरित्र
12. करकण्डु चरित्र
13. नागकुमार चरित्र
14. भद्रबाहु चरित्र
15. हनुमान चरित्र
16. महापुराण भाग-1, 2
17. श्री जम्बूस्श्रमी चरित्र
18. यशोधर चरित्र
19. व्रतकथा संग्रह
20. रामचरित भाग 1, 2
21. रामचरित (संयुक्त प्रकाशन)
22. आराधना कथा कोष भाग 1, 2, 3
23. शांतिपुराण भाग 1, 2
24. सम्यक्त्व कौमुदी
25. धर्मामृत भाग 1, 2
26. पुण्यास्रव कथा कोष भाग 1, 2
27. पुराण सार संग्रह भाग 1, 2
28. सुलोचना चरित्र
29. गौतम स्वामी चरित्र
30. महिपाल चरित्र
31. जिनदत्त चरित्र
32. सुभौम चक्रवर्ती चरित्र
33. चेलना चरित्र
34. धन्यकुमार चरित्र
35. सुकुमाल चरित्र
36. क्षत्रचूड़ामणि (जीवंधर चरित्र)
37. चन्द्रप्रभ चरित्र
38. कोटिभट्ट श्रीपाल चरित्र
39. महावीर पुराण
40. वरांग चरित्र
41. पाण्डव पुराण
42. सुशीला उपन्यास
43. भरतेश वैभव
44. पार्श्वनाथ पुराण
45. त्रिवेणी
46. मल्लिनाथ पुराण
47. विमलनाथ पुराण
46. श्रेणिक चरित्र

काव्य शास्त्र

1. चैन की ज़िंदगी
2. हीरों का खजाना
3. कल्याणी
4. हाइकु
5. क्षरातीत अक्षर
6. न मैं चुप हूँ न गाता हूँ
7. मुक्तिदूत के मुक्तक

विधान/पूजन साहित्य

1. शांतिनाथ विधान
2. अजितनाथ विधान
3. णमोकार महार्चना
4. दुखों से मुक्ति (सहस्रनाम विधान)
5. चन्द्रप्रभ विधान
6. श्रद्धा के अंकुर

7. कलिकुण्ड पार्श्वनाथ विधान
8. श्रीजम्बूस्वामी विधान
9. श्रीवासुपूज्य विधान
10. संभवनाथ विधान
11. निर्ग्रन्थ भक्ति
12. पूजा-अर्चना

अन्य साहित्य

1. निज अवलोकन
2. धम्म रसायण
3. जिन श्रमण भारती
4. रयणसार
5. योगामृत भाग-1, 2
6. अध्यात्म तरंगिनी
7. योगसार भाग-1, 2
8. भव्य प्रमोद
9. सदार्चन सुमन
10. तत्त्वार्थ सार
11. तनाव से मुक्ति
12. आराधनासार
13. उपासकाध्ययन भाग-1, 2
14. नीतिसार समुच्चय
15. सिन्दूर प्रकरण
16. चार श्रावकाचार
17. स्वप्न विचार
18. समाधितंत्र
19. धर्मरत्नाकर
20. विद्यानंद उवाच
21. डाक्टरों से मुक्ति
22. आ जाओ प्रकृति की गोद में
23. तत्त्व ज्ञान तरंगिणी
24. सार समुच्चय
25. प्रबोधसार
26. भगवती आराधना
27. कुरल काव्य
28. प्रकृति समुत्कीर्तन
29. कर्म प्रकृति
30. व्रताधीश्वर रोहिणी व्रत
31. अन्तर्यात्रा
32. श्रीशांतिनाथ भक्तामर सम्मेदशिखर विधान
33. अरिष्ट निवारक विधान संग्रह
34. पंचपरमेष्ठी विधान
35. तत्त्व भावना
36. सुख का सागर चालीसा संग्रह
37. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार
38. भावत्रय फलप्रदर्शी
39. तनाव से मुक्ति-भाग 1 (भजन)
40. इक दिन माटी में मिल जाना (भजन)
41. कर्म विपाक
42. सरस्वती उपासना
43. जैन वर्णमाला

प्रवचन साहित्य

1. सीप के मोती (महावीर जयंती)
2. चूको मत
3. जय बजरंग बली
4. शायद यही सच
5. वसुनंदी उवाच (प्रवचनांश)
6. सम्राट चन्द्रगुप्त
7. जीवन का सहारा
8. तैयारी जीत की
9. श्रुत निर्झरी
10. उत्तम क्षमा
11. मान महा विष रूप
12. तप चाहें सुर राय
13. जिस बिना नहीं, जिनराज सीजें
14. निज हाथ दीजे साथ लीजे
15. परिग्रह चिंता दुःख ही मानो
16. रंचक दगा बहुत दुःख दानी
17. लोभ पाप को पाप बखानो
18. सत्यवादी जग में सुखी
19. उत्तम ब्रह्मचर्य
20. नारी का धवल पक्ष

21. आईना मेरे देश का
22. दशामृत
23. न पिटना बुरा है न मिटना
24. गुरुत्तं 1, 2, 3, 4, 5
25. मीठे प्रवचन- 1, 2, 3, 4
26. बोधि वृक्ष
27. खोज क्यों रोज रोज
28. धर्म की महिमा
29. सफलता के सूत्र
30. आज का निर्णय (प्रवचनांश)
31. गुरु कृपा
32. गुरुवर तेरा साथ (प्रवचनांश)
33. स्वाति की बूँद
34. गागर में सागर (प्रवचनांश)
35. खुशी के आंसू

अनुवादित साहित्य

1. वसु त्रऋद्धि
2. तत्त्वोपदेश (छहढ़ाला)
3. दिव्य लक्ष्य
4. पंचरत्न
5. गुणरत्नाकर (रत्नकरण्डक श्रावकाचार)
6. तत्त्वार्थ सूत्र
7. विषापहार स्तोत्र
8. मूलाचार प्रदीप
9. पुरुषार्थ सिद्धियुपाय
10. जिनकल्पि सूत्रम्

रचित साहित्य

1. हमारे आदर्श
2. आहार दान
3. सर्वोदयी नैतिकधर्म
4. कलम पट्टी बुद्धिका
5. धर्म संस्कार
6. णंदिणंद सुतं
7. जिन सिद्धान्त महोदधि
8. सद्गुरु की सीख
9. धम्मस्स सुत्ति सग्गहो
10. आधुनिक समस्याओं को प्रमाणिक समाधान
11. धर्म बोध संस्कार-1,2,3,4
12. संस्कारादित्य
13. दान के अचिन्त्य प्रभाव
14. रट्ठसंति महाजग्गो

प्रेस में

1. तच्च सारो
2. विणय सारो
3. रदण सारो
4. नौनिधि
5. धर्मसंस्कार भाग-2
6. सुभाषित रत्न संदोह
7. जदि किदि कम्मो
8. अंते समाहि मरणं
9. सारांश

प0पू0 आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज के जीवन चरित्र पर आधारित साहित्य

1. समझाया रविन्दु न माना
2. दृष्टि दृश्यों के पार
3. पग वंदन
4. अक्षर शिल्पी
5. वसुनंदी प्रश्नोत्तरी (प्रैस में)